गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर

अथाह की थाह



अथाह की थाह

एक युवती के संघर्षमय
जीवन तथा मातृ-भूमि के
प्रेम की मर्मस्पर्शी कहानी

•

लेखक
गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर

अनुवादिका
मीरा नांदगांवकर

•

१९८९

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
एन-७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-११०००१

पहली बार : १९८९
मूल्य : रु० २०.००

मुद्रक
एन० एस० प्रिंटर्स, १४१, पुराना मौजपुर, दिल्ली-५३

स्व० पिताजी

पूज्य गजानन रामचन्द्र दुग्वेकरजी की

पावन स्मृति में

—मीरा नांदगांवकर

प्रकाशकीय

कुछ वर्ष पूर्व 'मण्डल' ने देशी-विदेशी भाषाओं के चुने हुए उपन्यासों के हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित करने की योजना बनाई थी। इस योजना के अन्तर्गत हमने भारत की तथा विश्व के विभिन्न देशों की भाषाओं के अनेक उपन्यासों को हिन्दी के पाठकों के लिए सुलभ किया। सभी वर्गों और क्षेत्रों में उन्हें बहुत ही पसन्द किया गया। उनकी लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उनमें से अधिकांश उपन्यासों के एकाधिक संस्करण हुए और उनकी मांग निरन्तर बनी हुई है।

हमें हर्ष है कि भारतीय भाषाओं के उपन्यासों की शृंखला में एक और महत्वपूर्ण कड़ी जुड़ रही है। प्रस्तुत उपन्यास की गणना कोंकणी भाषा के श्रेष्ठ उपन्यासों में की जाती है। इसके लेखक कोंकणी भाषा के विख्यात उपन्यासकारों में से हैं। यह कहते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है कि इसकी अनुवादिका भी हिन्दी की अच्छी लेखिका हैं।

उपन्यास का परिवेश कोंकण क्षेत्र है, कथानक भी वहीं का है। प्राकृतिक दृष्टि से कोंकण-अंचल अत्यन्त मनोहारी है। प्रकृति ने अपना अनुपम सौंदर्य मुक्तहस्त से वहां की धरती को प्रदान किया है। अध्यात्म की धारा ने भी उस भूमि को मालामाल किया है। नैसर्गिक सुषमा और आध्यात्मिकता का अपूर्व संगम इस उपन्यास में मिलता है।

उपन्यास के कथानक का ताना-बाना एक युवती के इर्द-गिर्द बुना गया है। वह युवती प्रतिभा से सम्पन्न है। वह बाल्यावस्था से ही अपने पिता से अध्यात्म के गूढ़ तत्वों को समझने और उनसे प्रेरणा लेने का प्रयत्न करती है। बड़ी होने पर उसका जीवन-संघर्ष उसे अध्यात्म की गहराइयों में ले जाता है। अपनी जन्म-भूमि के प्रति उसमें बड़ी आत्मीयता है। संयोग से वह वहां से दूर चली जाती है, लेकिन अपनी मातृभूमि को भूलती नहीं। जीवन की अनेक विषमताओं से जूझते हुए वह परिणय-सूत्र में बध जाती है और अपनी जन्म-भूमि में फिर लौट आती है। लेकिन वहां

आकर भी उसके दुर्भाग्य का अंत नहीं होता। वह अपने पति और उसकी मां के हाथों अनेक प्रकार से प्रताड़ित और लांछित होती है। कुछ ही समय बाद उसके पति का देहान्त हो जाता है। सास अन्यत्र चली जाती है। अपने रुग्ण तथा सद्भावी ससुर के सहारे वह अपने जीवन की नाव खेती रहती है। प्रकृति के प्रति उसका अगाध स्नेह और संतों के प्रति समर्पण उसे जीने की शक्ति प्रदान करता है।

उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते पाठक एकबारगी एक नये लोक में पहुंच जाता है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो संतों का समागम हो रहा है। संतों की वाणी जहां मन-प्राणों को शीतलता प्रदान करती है, वहां जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने का भी मार्ग प्रशस्त करती है। बेचारी युवती का कष्टों से भरा जीवन और संघर्ष पाठकों के दिल को हिला देता है। अपने ढंग की यह एक अनूठी कृति है।

हमें पूरा विश्वास है कि यह उपन्यास सर्वत्र मनोयोगपूर्वक पढ़ा जायगा और पाठकों को लाभान्वित करेगा।

—मंत्री

अथाह की थाह

•

पृष्ठ-भूमि

याद नहीं, इस स्नेहमयी धरती से, इस गंधमयी मिट्टी से, मेरा नाता कब और कैसे जुड़ गया। मुझे इससे असीम स्नेह है।

कोई कहेगा, "यह तो मिट्टी है, जड़ है, अचेतन है, इससे तुम्हारा क्या नाता? तुम तो चैतन्यमयी हो, तुम्हारा इसका क्या मेल? तुम्हारा इससे स्नेह कैसा?" परन्तु उसे क्या पता कि यह अचेतन ही मूल चेतना है। इसके गर्भ में समायी चेतना को देखने के लिए दृष्टि चाहिए। इस अचेतन में, इस जड़ता में, समाई है सारी दृष्टि।

जल के तनिक स्पर्श मात्र से ही इसके रूप में परिवर्तन दिखाई देने लगता है। जहां कुछ नहीं का आभास था, वहां नन्हें-नन्हें तृणांकुर अपने अनूठे हरे-पीले रंग के साथ जन्म लेते हैं। इस धरती के प्रति अपना स्नेह तथा आदर जताते हुए, मानो हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए, वे इसके गर्भ से जन्म लेते हैं। सारी वसुन्धरा रंगमयी हो जाती है, झूम उठती है। समय के साथ तृणांकुर छोटे-छोटे पौधों का रूप धारण कर लेते हैं। फिर उसमें खिलती हैं मुसकाती कलियां। कलियां, हंसते-हंसते सुगंधित पुष्पों में बदल जाती हैं। सृष्टि के नियमानुसार फिर एक दिन फल जन्म लेते हैं। बीज का यह जन्म धरती-मां के जीवन को तृप्त, सार्थक बना जाता है। मन में समायी इस धरती के लिए जो कहूं, थोड़ा है।

प्रकृति की अद्भुत छटा। गाय के गोबर से लिपे-पुते घर-आंगन। साथ ही जुड़े आकर्षक चबूतरे। बड़, नीम, पीपल के पार रात-दिन पानी से लबालब भरे बहते पाट। शतरूप धारण करने वाली इस मां के सौन्दर्य, विशालता तथा उदारता का यह अनूठा रूप है।

अंत में, एक दिन यह शरीर तो तजना ही है। परम इच्छा है कि जब प्राण इसे त्याग देंगे तो इस निर्जीव शरीर को यहीं किसी आम या कटहल के नीचे समाधिस्थ कर दिया जाय। इस काया का प्रत्येक कण इसी धरती में समा जाय, इसे अधिक समृद्ध बनाने में लग जाय। यह जन्म-मरण का फेरा तो मन को भाता ही नहीं।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि मैं जन्म-मरण की यातनाओं से भयभीत हूं। 'जीवन के सुख-दुःखों को शांति से स्वीकार करो' यह तो जीवन का मूलमंत्र पूर्ण रूप से स्वीकार ही कर लिया है, परन्तु भय इस बात का है कि पुनर्जन्म लेकर, फिर एक सूक्ष्म रूप धारण करके कहीं किसी एक ही देश का वास्तव्य स्वीकार करना होगा। इस प्रकार का जीवन स्वीकार करना सर्वथा कष्टप्रद तथा कठिन है। धरती में समा जाना, उसी'का रूप धारण कर उसी'का सर्वरूपेण हो जाना, वही हो जाना—गंधवती पृथ्वी।

यह सब तो मेरा स्वप्न मात्र है। क्या मैं नहीं जानती कि यह असंभव है! तात्याजी की मैं आजन्म ऋणी हूं। धरती-मां के प्रति प्रेम का, स्नेह का बीज उन्होंने ही मेरे मन में बोया। उसे फलने-फूलने दिया। इस बीज को पौधे-वृक्ष में परिवर्तित करते समय उन्होंने मुझे जो दिया, वह अपार है। वर्णन के परे है। परन्तु फिर भी इस कृशकाया में वह पूर्ण रूप से कहां समा पाया? वे तो आजीवन देते ही रहे, किन्तु मेरी झोली उस सारे को समा लेने में सर्वथा असमर्थ ही रही। उन्होंने संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम के साथ मुझे चलना सिखाया। मीराबाई की गोद में डाला। जनाबाई की चंदन-सी वेदनाओं का परिचय कराया। आंचल में इनका दिया कुछ बंधा है, जिसके सहारे आज जीवित हूं, अन्यथा इस दुर्बल काया में, चारों ओर से घिरे अंधेरे से जूझने की शक्ति ही न रह पाती।

तात्याजी के कुछ पुराने कागजात रखे हैं। वे नित्य-नियम से दिन-चर्या लिखा करते थे। उनकी ओजस्वी भाषा, उनके शब्दों का लालित्य तो मेरे पास नहीं है। फिर भी जो बन पड़ा, वह प्रस्तुत है। उनका ऋण तो जन्म-जन्मांतर में भी पूरा न कर पाऊंगी, फिर भी कुछ अंशों में प्रयत्न कर रही हूं।

'अथाह की थाह' नाम उन्हीं का दिया है। करांगुलि से जल की सतह पर बनाया रेखाचित्र है यह! ●

१/

कोंकण प्रदेश की यह गाथा है। दाभोल की खाड़ी में एक छोटा-सा गांव है 'कुसगांव'। वहीं के रहने वाले थे भिकोबा खरे। उनकी दो पत्नियां थीं। पहली की सात तथा दूसरी की छः संतानें थीं। पाट के पानी की सुविधा थी, जिससे सौ-पचास सुपारी और दस-बीस नारियल के पेड़ों की सिंचाई हो जाती थी, एकाध खंडी धान भी हो जाता था। पूरे परिवार का दो जून का खाना जुट जाता था। इससे अधिक की आस भी न थी और न उपज।

'गणू' आठ वर्ष की उम्र का था। पिता ने रीति के अनुसार उसका यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया और कहा, "अब अपना रास्ता स्वयं देखो, चाहे पढ़ो-लिखो या नौकरी करो। और कुछ बन सके तो हाथ में कटोरा लेकर 'भिक्षां देहि' कहकर ब्राह्मण धर्म का पालन करो। यहां रहे तो एक नारियल का पेड़, दो सुपारी के पेड़ तथा मुट्ठी-भर चावल मिलेगा। इससे अधिक की आशा मत रखना।"

बालक उठा, पिताजी के चरण छुए, फिर माता के बिवाई-फटे चरणों में माथा टेका। मां ने दही-बताशा हथेली में रख उसकी विदाई के आदेश को पक्का कर दिया। दोनों की आंखें तथा कंठ भर आए, जिसे वे कुशलता से एक-दूसरे से छिपा गए। बालक दो कपड़े बगल में दबा दाभोल की ओर निकल पड़ा।

क्या-क्या मंसूबे बांधे थे उसने। ढोरों को दूर-दूर तक चराने ले जाना था। आंवले-इमली के ऊंचे-ऊंचे पेड़ों पर चढ़ना था। वहां से समुन्दर को निहारना था। खाड़ी के दोनों ओर नारियल के ऊंचे वृक्ष देखती दृष्टि सुदूर बसे दाभोल पत्तन पर टिक जाती। पत्तन थोड़ा धुंधला-सा दिखाई देता। घनी छाया बिखेरते माड़ के वृक्ष। उनके तले दीख पड़ती लाल

खपरैल के घरों की बस्तियां। फिर दिखाई देती बड़ी बेगम मसजिद की मीनार। खाड़ी के दूसरे किनारे से लौटती निगाह प्रकृति का सौन्दर्य निहारती, अटकती और गांव के बगीचों पर आकर ठहर जाती। मन में समाए इस सौन्दर्य का चित्रण अपने हाथों कितनी ही बार पाठशाला की स्लेट पर किया था। एकबारगी चाचाजी ने कहा था, "क्यों रे! कहां जाकर सीखा यह सब? मन लगाकर चित्रकारी करेगा तो एक दिन चित्रकार बन जाएगा, खूब नाम कमाएगा।"

दोनों ओर फैली पर्वत-मालाएं। उनके बीच बहती नदी। किनारों पर फैली घनी हरियाली। ऊंचाई पर झूमते नारियल के वृक्ष। इन्हीं बगीचों के बीच दीखने वाले छोटे-छोटे खूबसूरत घर। किसी घर से उठता धुंआ, जो धीरे-धीरे आकाश में घुल जाता। अपलक निहारते रहने को मन करता है। इन्हीं में खो जाने को जी करता है।

ऋतुओं के बदलते ही प्रकृति का रूप भी बदल जाता है। कभी भीषण तो कभी अत्यंत मृदु। कभी कंपकंपा देने वाला तो कभी स्नेह से गोद में भर लेने वाला। कभी गरजने वाला तो कभी बरसने वाला।

भारी ग्रीष्म में सारे पेड़-पौधे पत्तों रहित हो जाते हैं। उमस बढ़ जाती है। दूर पहाड़ भी हिलते नजर आते हैं। चट्टानों पर अपनी पूरी गति से बहने वाली गर्म हवा मानो असंख्य जिह्वाओं से कोने-कोने से बूंद-बूंद का शोषण करती दौड़ती फिरती है।

परंतु पलाश के पेड़ तथा उन पर फूले अकुर बताते हैं कि वर्षा निकट है। वे दिलासा देते हैं। निकट भविष्य में वर्षा के आगमन का मानो वे संदेश देते हैं। इस संदेश की सत्यता प्रतीत होने लगती है। पश्चिम की ओर सूर्यदेव अपने अंतिम चरण में होते हैं तब उस ओर से बहने वाली हवाएं अपने साथ आस लाती हैं। हवाओं के पीछे होती हैं मेघों की काली-भूरी पंक्तियां। दिन-भर तो उनका रूप बिखरा-बिखरा-सा होता है, परन्तु शाम होते ही मानो उनमें एक होड़-सी लग जाती है। जैसे उन्हें कोई पूरब की ओर हांकता ले जा रहा हो। सागर से होती ये पंक्तियां किसी बड़े पर्वत के आसरे इकट्ठा हो जातीं, गरजतीं और अंत में बरस जातीं। चारों ओर आनंद-ही-आनंद बिखर जाता है।

कोंकण की वर्षा का अपना एक अलग ही ढंग है। बरसना शुरू कर देती है तो तीन-चार दिनों तक रुकने का नाम ही नहीं लेती। लगातार बरसती ही चली जाती है। घर से बाहर पैर रखना भी असंभव। बरसते पानी का जोर इतना कि एक हाथ की दूरी पर भी कुछ दिखाई नहीं देता।

उससे तो छोटी-बड़ी सभी सड़कें-गलियां परिचित हैं। घनी वर्षा में इमली के पेड़ के नीचे दौड़ जाने को जी करता है। वर्षा का आनंद लेते, नहाते भूमण्डल को देखने को मन तरस जाता। पानी का जोर कुछ कम होने पर बहुत सुन्दर दृश्य सामने उभर आता है। कोंकण की इस लाल मिट्टी को बहाकर ले जाने वाली असंख्य जल-धाराएं, जो गेरुआ रंग लिये दौड़ती दीखती हैं, बहते जल के आवेग से परिपूर्ण छोटे-छोटे नाले, धुले हुए पेड़ों के ऊंचे-ऊंचे शिखर। पर्वत-श्रेणी से नीचे की ओर बहती अनूठी जल-धाराएं। जल प्लावित खेतों की बंधियां! दूसरे ही क्षण वर्षा फिर जोर पकड़ लेती है और सुंदर दृश्य धूमिल होते-होते अदृश्य हो जाता है। प्रकृति का यह सौन्दर्य, उसकी विशालता, उसकी विविधता उसे बार-बार अपनी ओर आने का इशारा करती है, परंतु वह जा नहीं पाता। पिताजी की बड़ी-बड़ी कंजी आंखें उसे इन सबसे दूर कर देती हैं। मन मसोसकर रह जाता है वह। फिर वही दरवाजे पर खड़ा वर्षा का असीम आनंद लेने का उसका प्रयास होता है। पानी की बौछारें अपने पर झेलते हुए, बारंबार बहने वाली नाक को पोंछते हुए, उसे अधिकाधिक लाल करते हुए वह वहीं खड़ा रह जाता है। लगातार खड़े रहने से पैरों में दर्द शुरू हो जाता। उसे सहते हुए, दर्द के चरमसीमा पर पहुंचने पर ही दरवाजा छोड़ अलग होता है।

आषाढ़, सावन में वर्षा पूरे जोरों पर होती है और बाद में धीरे-धीरे कम हो जाती है। कहीं और चली जाती है! पीछे कुछ छुटपुट बादल छोड़ जाती है, जो आश्विन तक कभी-कभी अपना अस्तित्व जता जाते हैं।

अब खेतों में पके धान की सुगंध है। तरह-तरह के फूल-पौधों की महक है। पके धान की फसल काटकर दालों की बुवाई शुरू हो जाती

है। धरती का यह रूप देखते ही बनता है, मानो अपने नन्हें शिशु को, जो मात्र तीन-चार महीने का है, मंदिर ले जाती वह मां है, जिसे पहली बार ही मातृत्व का दान मिला हो। उसका रूप, उसकी गरिमा, उसका उल्लास, सभी कुछ इसमें दीख जाता है। मन में भय उठता है कि उसे निरंतर निहारना, कहीं उसे नजर न लगा दे। कोंकण का यह रूप अवर्णनीय है।

गणू चाहता है, यह सब यहीं ठहर जाय। वह बड़ा होना ही नहीं चाहता। वह उस बालक की तरह ही रहने की इच्छा रखता है, जो हर-दम मां के आंचल से लिपटने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। उसे आशा है, नारियल के पेड़ों की बिखरी छाया में दौड़ जाने की, सुपारी की बंधी में घूमते गोल-गोल पानी को देखने की। आशा है, धान के कच्चे पौधों को लेकर बंधियों पर से दौड़ते हुए खेतों तक पहुंचाने की, और आशा है, उन नन्हें रेंगते प्राणियों से होड़ लगाने की, जो खेतों की मेड़ पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। संध्या के समय छोटी-बड़ी नावें समुंदर में उतरती हैं। उन नावों के वे मनोहारी हवा भरे पाल उसे आकर्षित करते हैं। खाड़ी के इस धीमे पानी में नावों की गति और भी धीमी प्रतीत होती है। देखते-देखते वे सारी नावें आंखों से ओझल हो जाती हैं और जी अकु-लाने लगता है। लगता है, वह भी किसी मछली का रूप धारण कर जल में कूद जाए। इस अथाह जल-राशि में सीमा-विहीन हो भ्रमण करे। इसके रूप को निहारे। खाड़ी के किनारों से लगकर घूमते-फिरते पानी में हवा के बुलबुले छोड़ता इतराता फिरे। परंतु सबकुछ छूटा जा रहा है। सारे मंसूबे मन में ही धरे रह गए। प्रकृति में उसका इस तरह खो जाना न तो कोई समझ पाया और न ही किसी ने जानने का प्रयत्न किया। उसे तो सभी पागल समझते हैं। भाई-बहन चिढ़ाते हैं। उसके मन की थाह तो कोई जान ही नहीं पाया। दु:ख से आंखों में आंसू उमड़ आते हैं, जिन्हें वह चुप-चाप पोंछ डालता है।

यह सब असहनीय हो जाता तो गणू मां की गोद में मुंह छुपाकर रो पड़ता। वह तो बेचारी पहले से ही सौतन की सताई हुई थी। उसके रोने का कारण जानने का कुछ प्रयत्न भी करती, पर वह तो कुछ बोल ही न

पाता। वे और भी दुखी और नाराज होकर कहतीं, "इतना क्यों रो रहा है? जबतक बोलेगा नहीं, कोई क्या समझेगा?" गणू सोचता उन्हें क्या कहूं? किन शब्दों में बताऊं कि मेरा स्नेह इन खेतों से जुड़ा है। मेरी आंखें खाड़ी के रूप को अपलक देखते रहने की इच्छा रखती हैं। ऊंचे नारियल के पेड़ मुझे अपने में बांधे रखना चाहते हैं। और मेरा मन हवा में गोल-गोल उड़ते पत्तों के साथ ऊपर आकाश में घूमने को करता है। खाड़ी के जल में मछली बनकर विचरने को करता है। कैसे कहूं? इस व्यथा को किन शब्दों में उनके सामने रखूं? वे समझेंगी, यह गणू पागल हो गया है! किसी ने इस पर टोटका कर दिया है! इतना सब सहकर वह इसी मिट्टी में रहना चाहता था। उसकी जन्मभूमि उससे बिछड़ जाय, इसकी कल्पना मात्र उसे आंतरिक दु:ख दे जाती है। परन्तु क्या करे? जन्मदाता ने आज विदाई का आदेश ही दे दिया।

रास्ते में एक बड़े पत्थर पर गणू बैठ गया। आंखों से आंसू झर रहे थे। मन करता कि इसी पल दौड़कर वापस घर चला जाय। पिता के पैरों में लोटकर बार-बार कहे कि नहीं चाहिए मुझे अपने हिस्से का धान, नहीं चाहिए आपके पेड़ और सुपारी, कुछ न दें। केवल यहां इस धरती-मां की गोद में रहने की अनुमति दें, उससे मुझे वंचित न करें। इसका विरह मैं नहीं सह पाऊंगा! पर दूसरे ही पल उसकी आंखों के सामने पिता की छवि प्रकट हुई। उनकी तृप्त आंखें तथा हाथ की उंगली एक ही निर्देश दे रही हैं कि अब इस घर में तुम्हारा कुछ भी नहीं। अपना जीवन स्वयं बनाओ और स्वयं जीयो।

वह उठ खड़ा हुआ। कुर्ते से आंखें पोछीं। एक बार जी-भरकर प्रकृति को निहारा। उसके रूप को मन में बसाया, फिर अपनी राह चल पड़ा।

२/

दाभोल में गणू के दूर के रिश्ते के एक मामा रहते थे। विपन्नता उनके घर में भी थी। कोई दस-बीस नारियल के पेड़ थे। पास वाले मठ में पूजा-पाठ का काम देखते थे। थोड़ी-बहुत पंडिताई भी कर लिया करते थे। बस, इसी के सहारे किसी तरह गृहस्थी की गाड़ी खींच रहे थे।

मामी सरलमना स्त्री थीं। उन्हीं के कारण गणू को उस घर में सहारा मिला। उनके कोई पुत्र न था। दो बेटियां थीं, जो पढ़ती थीं और घर के कामों में मां की मदद किया करती थीं।

गणू पास ही के चंडकाई मंदिर में अधिकांश समय बिताता। मां चंडकाई के पास जलते, कड़ुए तेल के दिये की रोशनी में पढ़ाई करता। फिर कुछ खाते-पीते ब्राह्मण परिवारों ने उसके सप्ताह भर के दिनों के भोजन की व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार जीवन व्यतीत करने में होने वाला संकोच, मन को कचोटने वाला दर्द, सबकुछ दरिद्रता और लाचारी के बोझ से नीचे दब गया। अब यह कोई हफ्ते दो हफ्ते की बात तो थी नहीं। इसी तरह अनेक वर्ष गुजारने थे। जीवन की राह खोजनी थी।

ऐसी स्थिति में भी उसे मामी के घर का सहारा तो था ही। गणू के फटे कपड़े मामी सी दिया करती थीं। उसका हालचाल पूछ लिया करती थीं। मां चंडिकाई का आशीर्वाद मानो गणू को मिल गया था। अपनी कक्षा में वह प्रथम या दूसरे स्थान पर रहने लगा। प्रधानाचार्यजी अन्य विद्यार्थियों के सामने उसकी प्रशंसा करते थे। कहते, "देखा, मंदिर के दिये की रोशनी में पढ़ता है। न उसके पास पूरी पुस्तकें हैं और न कोई दूसरा साधन। वस्त्रों का हाल तो दुनिया जानती है। फिर भी कक्षा में अव्वल आता है। ऐसे ही उन्नति करता गया तो एक दिन बड़ा अफसर बनेगा। कलेक्टर भी बनेगा।" फिर गणू से कहते, "लेकिन गणू, एक बात ध्यान से सुनो। तुम्हारे दिमाग में यह प्रकृति-निरीक्षण का जो भूत सवार है न, उसे बिल्कुल निकाल दो, अन्यथा उन्नति नहीं कर पाओगे।"

हर शाम लगभग सारा दाभोल गांव सागर के किनारे उमड़ पड़ता था। नाव जो आया करती थी! करीब आधा घंटा वह पत्तन में रुका करती थी। इस बीच कुलियों की भागदौड़, सामान उतारना-चढ़ाना, खूब शोर हुआ करता। एक अनोखा चैतन्य उस आधे घंटे में देखने को मिलता। आधे घंटे बाद नाव वहां से चल देती और धीरे-धीरे आंखों से ओझल हो जाती।

वहां एकत्र गांव के लोग एक-दूसरे को छेड़ते :

"ओ बाबल सेठ, कल फिर आने वाली है नाव। फिर आ जाना। अभी तो घर लौटो।" अपना सरोता बंडी में रखते बाबल सेठ कहते, "कौन माई का लाल यहां रोज-रोज नाव देखने आता है। एक मेहमान आने वाले थे, उन्हें ही देखने आया था, वे तो आए नहीं।"

"हर चौथे दिन आपका यही जवाब होता है। भला, हमेशा ये मेहमान आपके घर क्या करने आते हैं?"

अपनी पोल खुलते देख बाबल सेठ और उखड़ जाते। गुस्से से कहते, "मेरी छोड़ो। तुम लोग क्या करने आते हो रोज-रोज यहां?" सुनने-वाले कहते, "हमारी बात और है।"

इस प्रकार हंसते-हंसाते सभी लौट पड़ते और फिर दूसरे दिन इकट्ठा हो जाते।

इस गांव को इस कृत्रिम वस्तु का बड़ा आकर्षण है। सागर में उठने वाला ज्वार-भाटा, उसके साथ बहकर आने वाली असंख्य वस्तुएं। सागर की लहरों का संगीत। इन बातों की ओर भला कभी किसी का ध्यान गया है? जैसे इन बातों से इनका कोई सरोकार ही नहीं।

नाव निकल जाने पर सागर किनारे एक शांति-सी छा जाती। एक नीरव शांतता। इसी समय बगल में पुस्तकें दबाए गणू आ पहुंचता। यह शान्ति, यह प्रकृति, यह निसर्ग सब उसे अपने लगते, एकदम अपने।

मामा जिस मठ में पूजा-अर्चना करने जाते थे वहां कुछ पुराने धार्मिक ग्रंथ, पोथियां रखी थीं। उसी संग्रह में गणू को 'तुकाराम गाथा' और 'ज्ञानेश्वरी' के ग्रंथ दिखाई दिये। वह पुलकित हो गया। साहस बटोरकर मामाजी से बोला, "मैं इन्हें देखना चाहता हूं।"

"पढ़ाई की ओर पूरा ध्यान है या नहीं ?" मामा बोले, "पहले पढ़ाई बाद में और कुछ।"

"पिछली परीक्षा में प्रथम स्थान पाया था।" गणू की आवाज में उत्साह था।

"अच्छा ! तब ठीक है। एक-एक करके पुस्तकों को पढ़ना। सम्हाल-कर रखना, खराब मत कर देना। तुम तो जानते ही हो 'पुस्तकं वनिता वित्तं परहस्तगतं गतम्...'।"

जैसे अनमोल खजाना ही गणू के हाथ लग गया हो। ग्रंथ पुराने थे, पर थे मौलिक। पृष्ठ इधर-उधर बिखरे थे। कहीं-कहीं उल्टे-सीधे जुड़े थे। उसने सब करीने से लगाया। क्रम से पन्ने जोड़ता चला गया। 'तुकाराम गाथा' खोली, पढ़ना आरम्भ किया और पढ़ते-पढ़ते आनंद-विभोर हो गया, उसीमें खो गया। वे क्या-क्या कह गए। जीवन का सार गीतमयी पंक्तियों में उतारते चले गए। उसकी गहनता को कितनी सरलता से कह गए :

"निर्वाह हो सके, इतना ही भोजन, कपड़ा, निवास रहे।"
"मन कहीं भी बंधकर, अटककर न रहे।"
"हृदय में 'हरि' के अतिरिक्त कोई न रहे।"
"जन-मानस में बैठ अति वाचालता न रहे।"
"बुद्धि, मन, चित्त सावधान रहे।"
"इंद्रिय दमन में प्रयत्न रहे।"
"काया, मन, हृदय में विशुद्धता रहे, सरलता रहे।"
"ईश्वर की ओर अग्रसर होने की बुद्धि रहे, शक्ति रहे।"

और भी कितना सारा दर्शन, भक्तिभाव दे गए तुकाराम। लेते-लेते झोली छोटी पड़ गयी, आंचल कम पड़ता गया।

तुकाराम महाराज तो किसी उच्च कुल के नहीं थे। निम्न जाति में जन्म पाकर भी यह ज्ञान उन्होंने कहां से पाया होगा? हरसिंगार के सुंदर फूलों से ये शब्द झरते, सुगंध फैलाते चले गए। यह मात्र चमत्कार नहीं तो और क्या है ? शब्दों के प्रवाह की कोई तुलना ही नहीं ! जैसे पूनम-अमावस का ज्वार-भाटा, जल की गति का कोई अनुमान नहीं ! जैसे ठहरे पानी में हवा के जोर पर डोलती नौकाएं, जिनकी गतियां गिनने का अवसर ही नहीं।

यह मात्र शब्दों का प्रवाह बनकर नहीं रह गया। उसकी सरलता, भाषा की मधुरता उसमें निहित है। पढ़ते समय कहीं जटिलता का अवरोध नहीं, प्रतिरोध नहीं। जैसे माला में पिरोए मोती। जैसे एक शब्द के लिए ही दूसरे शब्द ने जन्म लिया हो। ये सारे शब्द ऐसे झरते चले गए, जैसे उन्हें इस गाथा में अपने स्थानों का पता हो। दोहे, चौपाई, पद, गीत, अभंग इन सबमें वे अपने स्थान पर विराजमान हैं।

दाभोल का पत्तन अब निर्जन हो चला था। संध्या का स्थान धीरे-धीरे रात्रि ने लेना शुरू कर दिया था। जहाजों और नावों की रस्सियां बांधने के लिए वहां एक पुरानी तोप रखी थी। अब वहां खम्भे से लटकी एक बत्ती लगी है, जो किनारा दर्शाती है। दूसरी ओर गणू है। दृष्टि तो जल पर स्थिर थी, पर मन खो गया था 'तुकाराम गाथा' में। तुकाराम कहते हैं कि मेरे मन को अपार शान्ति मिली है। जिह्वा अमृतरस बरसा रही है। चहुं ओर शुभ, मात्र शुभ, घिर आया है। हरिचरणों में चित्त स्थिर हो गया है। सुख का मेल असीम सुख से हो गया है। आनंद सीमा-हीन हो गया है। गणू भ्रम में पड़ गया। पाठशाला की किताब में पढ़ा था कि तुकाराम की प्रिय पत्नी का देहांत हो चुका था। माता-पिता का साया भी खो दिया था। दूसरी पत्नी कर्कशा थी। दिवाला भी निकल गया था दुकानदारी में। गांव में मित्र कम, शत्रुओं की संख्या अधिक थी। इस जीवन में तो पीड़ा-ही-पीड़ा दीख पड़ती, निराशा का घोर अंधेरा ही दृष्टिगोचर होता। फिर यह आनंद उन्हें कहां से मिला? इतनी प्रसन्नता उन्हें कौन बांट गया? यह विभोरता, यह तृप्ति, वे कहां से प्राप्त कर सके? यह आत्मिक सुख कैसा ?

सागर की लहरें किनारों से निरन्तर टकराती रहतीं। शोर करती एकाध लहर गणू को आहिस्ता-से भिगो जाती, परन्तु उसका ध्यान तो कहीं और था। चिन्तन-मनन उसका धर्म हो गया था। वह सागर, लहरें इन सभी से कहीं दूर भटक गया था।

छोटा-सा गांव। सभी एक-दूसरे को जानते थे। अक्सर सागर-किनारे देसी शराब पीने के लिए इक्का-दुक्का लोग आते थे। आज भी शिर्के और गांवकर आए थे। बोतल का ढक्कन खोलते शिर्के का ध्यान गणू की ओर गया। उसने गांवकर से पूछा, "यह कौन बैठा है ?"

"अरे, यह तो गणू है। जरा-सा 'पागल' है, परन्तु पानी में कूदकर प्राण दे दे, इतना नहीं। रोज ही आकर यहां बैठा रहता है। उसकी ओर ध्यान मत दो। चलो निकालो चने-मूंगड़े।"

घंटों जलराशि को निहारने के बाद बड़े उदास मन से गणू घर की ओर चल पड़ता और चुपचाप टाट का बिस्तर बिछाकर सो जाता।

३/

आज डाकिया गणू का 'वर्नाक्युलर फाइनल' का परीक्षा फल दे गया है। पूरी तहसील में वह दूसरे स्थान पर है। उसकी इस सफलता से प्रधानाचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसे बुलवा भेजा। पूछा, "अब क्या करने का इरादा है ?"

नीची नजर रखते हुए गणू बोला, "घर जाऊंगा।"

"अवश्य जाओ। पर बाद में क्या विचार है ? हमेशा की तरह सृष्टि-निरीक्षण ?" गणू कुछ न बोला तो फिर मास्टरजी ने कहा, "देखो, मेरी डेपुटी साहब से पहचान है। यहां पास ही दूसरे मुहल्ले में नई पाठशाला खुलने वाली है। चाहो तो वहां नौकरी लगवा दूं।"

इस पर भी गणू कुछ न बोल पाया। मास्टरजी तब फिर बोले, "आजकल के इन नौजवानों में अपना भला-बुरा सोचने की मानो ताकत ही नहीं है। इसके पिता को ही बुलवाना पड़ेगा।"

पिता को बुलवाया। वे आए। प्रधानाचार्य और उनके बीच कुछ तय भी हो गया। मामा के आंगन में जब पिता आए तब गणू स्लेट पर कोई चित्र बना रहा था। अंगोछे से पसीना पोंछते-पोंछते वे दोनों

चौबारे में बैठ गए।

अन्दर भी सुनाई दे सके, इतनी ऊंची आवाज में बोले, "पानी लाना पीने के लिए। साथ में गुड़ की डली भी।"

पिता के प्रवेश करते ही गणू उठ खड़ा हुआ और हाथ पीछे की ओर बांधकर धीरे-से बोला, "घर आने की इच्छा है।"

"और ढोरों को चराने की भी इच्छा होगी ! क्यों ?" पिता बोले, "यह सब सुनने मैं यहां नहीं आया हूं, समझे ! मास्टरजी जैसा कहते हैं, वही करो, वह ठीक भी है।"

गणू पैर के अंगूठे से मिट्टी कुरेदता खड़ा रहा। पिता ने सोचा, यदि नरमाई से काम लूंगा तो लड़का मान जाएगा और नौकरी-चाकरी में लग जाएगा। पंद्रह-बीस रुपये मुझे भी खर्चे पानी के लिए मिल जाएंगे। हर महीने इतनी भी मदद हो जाये तो मेरे लिए बहुत है।

"घर तुम अवश्य आना, मां भी राह देख रही है, परन्तु दस-पंद्रह दिनों में वापस आ जाना। कामकाज से लग जाना। अच्छा !"

गणू कुछ बोला नहीं। गर्दन से सम्मति दर्शा दी।

रात्रि में भोजनोपरांत गणू के पिता आंगन में हाथ धोने आए तो देखा, मामी की छोटी कन्या पीछे खड़ी है।

"मां बुला रही है।" वह बोली।

"आज मैं यहीं ठहरने वाला हूं। आराम से फिर बातें होंगी।"

गणू ने भोजन के बाद धीरे-से कहा, "जरा सागर किनारे घूमने का मन है।.."

"जाओ, घर लौटने में देर मत कर देना।" पिताजी बोले।

गणू के जाते ही वे मामी की ओर मुड़े, "कहो क्या बात है ? गणू ने किसी विपत्ति में डाल दिया है क्या ?"

हाथ की बत्ती आले में रखती मामी बोलीं, "वह क्या विपत्ति खड़ी कर सकता है ? नाक की सीध में चलने वाला, बड़े सरल स्वभाव का पुत्र है आपका। किसी से कोई लेन-देन नहीं। रात-दिन किताबों में डूबा रहता है।"

सुपारी की कतरन भिकोबा की हथेली में रखते हुए मामा बोले,

"अजी क्या बतावें, हमारे मठ के सारे ग्रंथ और पोथियां तक इसने पढ़ डालीं। वर्षों से कपड़े में बंधी इन पुस्तकों का मानो इसने जीर्णोद्धार कर दिया। कहीं-कहीं तो दीमक ने ग्रंथों को नष्ट कर दिया था। पर आपका यह बेटा, उन सबकी देखभाल में खो गया। उनको धूप में सुखाया। पन्नों को तरतीब से लगाया। फिर वस्त्रों में बांध करीने से रख दिया। उन ग्रंथों में 'ज्ञानेश्वरी' या जो कुछ भी कहते हों—वह भारी पुस्तक यह लड़का पढ़ गया। अभी इसकी उम्र ही क्या है? यही कोई पंद्रह-सोलह की होगी। पर गुण तो इसमें ऐसे भरे हैं, जैसे किसी महाज्ञानी में होते हैं।"

मामी जानती थीं कि पतिदेव निरंतर बोलते ही चले जाएंगे। उन्हें मुंह खोलने का अवसर ही नहीं मिलेगा। वह बीच में ही बोल पड़ीं, "बहू लाने का विचार है क्या आपका ?"

"अरे, इतनी जल्दी !"

"और क्या ? गृहस्थी के बंधन में बांध दोगे तो हर घड़ी कहीं जाने का बावलापन कम हो जाएगा।"

"परन्तु लड़की कहां है ?"

"देखी है मैंने एक।" मामी हंसते हुए बोलीं, "हमारे रिश्ते की है। वैसे है तो छोटी-सी, पर कामकाज में तेज है। आपको कहने-सुनने का मौका नहीं देगी।"

भिकोबा की आंखें एकबारगी चमक उठीं। फिर दूसरे ही क्षण कुछ सोचकर बोले, "लेकिन, इसके दो बड़े भाई अभी कुंआरे हैं। उनसे पहले इसका ब्याह कैसे कर दूं ?"

"थोड़ी-बहुत ऊंच-नीच तो चलती ही रहती है। फिर यह तहसील में दूसरा आया है ! नाम कमाया है।" मामी ने कहा।

अंततः भिकोबा मामी की बात मान गए। लेन-देन आदि के बारे में विचार-विमर्श कर बातचीत समाप्त हो गई। उठते हुए बोले, "जब आप लोग इतना जोर दे रहे हैं, तो ठीक है।"

इस पर मामाजी हंस पड़े, "अजी, ये नाते-रिश्ते जोड़ने वाले हम कौन होते हैं ! विधाता जन्म से पहले ही जोड़ी बनाए रखता है।"

४/

पवनार, अमरावती, वर्धा, धरनगांव, गारपेट आदि गांव महाराष्ट्र के बरार प्रदेश में बसे हैं। यहीं दर्यापुर तहसील में बसा छोटा-सा एक गांव है, 'दापोरे'। यहीं के एक छोटे-से जमींदार हैं 'बर्वे'। यहां जमींदार को 'इजारदार' कहने की रीति है। इजारदार बर्वेजी को फल, पत्तों आदि से कोई खास लगाव तो नहीं, किन्तु जबसे किसी गोरे साहब ने यह कहकर उनके ज्ञान में वृद्धि कर दी कि बड़े लोगों को बाग-बगीचे का शौक रखना ही चाहिए, तब से वे इसका शौक रखने लगे। बगीचे में काम करने के लिए एक माली नियुक्त किया। बंगले के चारों ओर जहां देशी फूलों, गुलाब, चमेली, मोगरा आदि के पौधे लगवाए, वहीं डहेलिया, जेनिया आदि विदेशी पौधे भी दिखाई देने लगे, मानो पूरब-पश्चिम का संगम !

बर्वेजी की हार्दिक इच्छा थी कि अंग्रेज सरकार उन्हें 'रायसाहब' की उपाधि से अलंकृत करे। यह भी इच्छा थी कि सुन्दर रेशमी धोती पहन, सिर पर चमचमाती पगड़ी पहनकर आंखों पर शानदार चश्मा चढ़ा जब वे पालकी में सवार हो दापोरे से दर्यापुर जाएं, तो मार्ग में लोग आदर से उनका स्वागत करें, झुक-झुककर सलाम करें और कहें, "रायसाहब बर्वे जा रहे हैं।" भूले-भटके कोई मजिस्ट्रेट या कलक्टर दापोरे आए तो उनके बगीचे में विश्राम करे और आतिथ्य से संतुष्ट होकर हाथ मिलाते हुए उनसे कहे, "रायसाहब, आप बड़े अच्छे हैं।" यदि इतना सब हो जाए तो उनके पुरखे मानो मोक्ष पाकर सदेह स्वर्ग चढ़ जाते !

अचानक एक दिन उन्हें मालूम पड़ा कि साहब लोग विद्यार्जन का भी शौक रखते हैं। किसी कलक्टर ने तो शास्त्रीजी से संस्कृत सीखना भी शुरू कर दिया है। खास समाचार यह भी मिला कि साहब रेशम की धोती पहनकर अध्ययन करते हैं। एक कमिश्नरसाहब तो स्नान, संध्या-पूजा आदि नियमपूर्वक करते हैं। बस, फिर क्या था ? एक पंडित की नियुक्ति धर्म-कर्म के लिए हो गई। यह बात और थी कि इजारदार पूजा में कुछ पल

बैठते और शेष सब पंडितजी ही पूरा करते, मानो इजारदार ही ने पूरा कर्म किया हो।

परन्तु क्या इतना ही पर्याप्त था! साहब के पद-चिह्नों का अनुसरण करने के लिए गांव में एक पाठशाला का होना अनिवार्य था। आनन-फानन में पाठशाला भी खुलवा दी। कोंकण के दापोली गांव में बर्वेजी के ससुर रहते थे। तुरन्त उन्हें पत्र लिख दिया, "एक अच्छा-सा, बुद्धिमान शिक्षक भेज दीजिए। वह ऐसा हो, जो चित्रकारी जानता हो। यहां बंगले में बड़े-बड़े लोगों का आना-जाना रहता है। दीवानखाने की दीवारों पर बेलबूटे काढ़ सके, दर्शनी दरवाजे के दोनों ओर बंदूकधारी जवान उकेर सके। गणेशोत्सव में गणेशजी की झांकी सजा सके..."

महाराष्ट्र में नवरात्रि में महालक्ष्मी पूजन के लिए चावल के आटे का मुखौटा बना, उसकी पूजा करने की प्रथा कुछ परिवारों में है। यह मुखौटा स्वयं गृहस्वामिनी बनाती है। इजारदार के घर क्या कमी थी। पसेरी भर आटा गूंथा जाता, दस-बीस नौकर-चाकर मालकिन की सेवा में तत्पर रहते। मालकिन स्वयं परिश्रम-पूर्वक मुखौटा बनातीं। लोग श्रद्धा से नमस्कार करते, मुखौटे को महालक्ष्मी माता का रूप मानते। परन्तु यह मुखौटा नामक जो वस्तु बनती, उसका वर्णन क्या करें? बच्चे मुखौटा देखते ही भयभीत हो भाग खड़े हो जाते। कुछ लोग कानाफूसी करते या दबी आवाज में कहते, "श्रीरामचन्द्रजी ने ताड़का-वध कर धड़ से अलग किया, यह मस्तक है या मुखौटा?"

चित्रकार, कलाकार, शिक्षक आया तो यह काम भी निभ जाएगा। पहले तो इजारदार की इच्छा थी कि शिक्षक कवि भी हो। उनके भावों को काव्यरूप दे सके। शादी-ब्याह में गाए जाने वाले 'मंगलाष्टक' का रचयिता वह शिक्षक हो, और उसमें कुछ फेर बदल कर, वे अपने नाम से उसे पेश कर सकें। बंगले पर जब डिप्टी, नाजर जैसे ऊंचे लोग पधारें तो उनके गुण-बखान का काव्य शिक्षक रच सके। यदि यह सारा कार्य परिश्रमपूर्वक न हो सका तो 'रायसाहबी' की उपाधि से हाथ धोना पड़ेगा। उसकी आशा ही धूमिल पड़ जाएगी। खूब सोच-विचार कर अंत में उन्होंने अपने आदरणीय ससुरजी को लिखा, "आप यहां एक ऐसे कम

उम्र शिक्षक को भेजने की कृपा करें, जो चित्रकार हो, मूर्तिकार हो और साथ-ही-साथ कवि भी हो। इन सबसे यदि समय मिला तो कुछ बच्चे भी पढ़ा दिया करे। दस-बीस रुपए दे दिया करेंगे। यदि उसने हमें प्रसन्न रखा तो एक-दो रुपया अतिरिक्त भी दे दिया करेंगे।"

५/

मूर्तिजापुर स्टेशन से गणपत भिकाजी खरे ने दापोरे जाने वाली छोटी गाड़ी पकड़ी। साथ में युवा पत्नी तथा गोद में नन्हीं बच्ची। सामान के नाम पर दो पुराने संदूक, एक बिस्तर और काम-चलाऊं बर्तनों से भरा एक बोरा।

गाड़ी चलने में अभी करीब एक घण्टे का विलम्ब था। बच्ची बहुत रो रही थी। उसे कंधे पर ले, थपथपाते वे प्लेटफॉर्म पर ही घूमते रहे। अनगिनत स्मृतियां उमड़-उमड़ पड़ती थीं।

मातृभूमि छोड़ इतनी दूर मैं क्यों आया? वहां दाभोल में अध्यापकी क्या बुरी थी? कम-से-कम मातृभूमि की हवा के झोंके का सहारा तो था। यहां इतनी दूर अपना क्या है? ईश्वर का दिया स्वभाव ऐसा कि खुशामद करते नहीं बनी। गुण थे, पर औरों से स्वयं न कह सके तो पिछड़ गए। तरक्की नहीं पाई। धन का अभाव सदा ही बना रहा। भाइयों के खर्चे, बहनों की शादियां। इन सबमें पूरा ही न पड़ता। फिर नौकरी वाला अकेला मैं। पिताजी थक गए हैं। माताजी के शरीर को लकवा मार गया है।

मेरा अपना कोई मित्र-परिवार भी न बन पाया। ग्रंथ, पोथियां, तुकाराम, ज्ञानेश्वर ये ही मेरे सबकुछ हो गए। मनन, चिंतन यही मात्र सहारा बन गए। इन ग्रंथों पर चर्चा कर सकूं, ऐसा कोई निकट सम्बन्धी भी नहीं।

इन अनगिनत पीड़ाओं से उबरने के लिए मैं तुकोबा की ओर देखता

हूं। वे कहते हैं, "हे ईश्वर! मुझे दिवालिया बनाकर तुमने मुझ पर अनन्त उपकार किए हैं। अब तो धन के हिसाब की चिंता ही मिटा दी। तुम्हारे चिन्तन के लिए मैं मुक्त हो गया। कर्कशा पत्नी देकर तो और भी अच्छा किया। जगहंसाई होती है तो तुम्हारे चिंतन में मन अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है !"

मेरी दशा तो तुकोबा से कहीं अच्छी है। न तो मैं दिवालिया हूं, न अत्यधिक अभावों से घिरा हूं। मेरी तो पत्नी भी कर्कशा नहीं। जगहंसाई भी नहीं।

यदि तुकाराम महाराज इतना दुख सह गए, विपत्तियों की आग में जलकर निखरा सोना बन उबर आए, तो क्या मैं विपत्तियों का सामना भी नहीं कर सकूंगा ? नहीं ! मुझे अपनी सहनशक्ति पर विश्वास करना चाहिए। उन्होंने मार्ग दिखा दिया है, उस पर चलना ही मेरा धर्म है। ईश्वर जिस स्थिति में रखेगा, उसी में प्रसन्नतापूर्वक रहूंगा। मर्यादा पुरुषोत्तम निर्मित इस भवसागर में मैं अपनी जीवन नैया विश्वासपूर्वक उतार ही दूंगा।

याद आया वह दिन, जब पिताजी दापोली से सीधे मेरे घर आए थे। आते ही एक टूटी कुर्सी पर धम्म से बैठते हुए बोले, "बहू, पानी लाना और तनिक चाय भी चढ़ा देना। और हां, तात्या कहां है ?"
मैं सामने खड़ा हो गया। बोले, "बरार' जाओगे ?"

"बरार ?"

"अफ्रीका जाने की बात तो नहीं कर रहा हूं ! दापोली के भावेजी के दामाद वहां इजारदार हैं। कोई स्कूल खोलना चाहते हैं। उनके बंगले के निकट ही रहने के लिए कोठरी मिल जाएगी, किराया भी नहीं लगेगा। बच्चों को पढ़ाना। बचे समय में उनकी मदद किया करना। बड़े लोग हैं। प्रसन्न हुए तो जीवन-भर का कल्याण कर देंगे।"

"परन्तु कोंकण छोड़..."

"क्या वहां लोग नहीं बसते ? यहां से कितने ही वहां जाकर बस गए धनवान हो गए। और फिर हमें तो कहीं भी रहें, मेहनत-मजूरी करके ही पेट भरना है। क्या देश, क्या परदेश ! यहां कौन-सा अतिरिक्त धन-लाभ

हो रहा है। छः-सात साल हो गए नौकरी करते, जिसमें दो बार तबादला हुआ। पर रहे जैसे-के-तैसे। जो तुम्हारे बाद नौकरी में लगे, वे आगे निकल गए। तरक्की पा गए। एक तुम हो ! आंख पर पट्टी बांधे, कोल्हू के बैल की तरह वहीं चक्कर लगा रहे हो !"

एक क्षण वे रुके। थक गए थे। फिर बोले, "मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। उन्हें वचन दे आया हूं। इस नौकरी से त्यागपत्र देने से पहले एक महीने की नोटिस देनी पड़ती है न, सो कल ही दे देना, समझे।"

रात में पत्नी बोली, "दूर देश में नौकरी मिल रही है तो वहीं चलो। ससुराल-मायके के लोगों से दूर रहेंगे तो प्रेम बना रहेगा। 'दूर के ढोल सुहावने।' आप भी भले, हम भी भले।"

"परन्तु अपने देश का विरह सताएगा। मन दुखता है।"

"छुट्टियां तो मिलेंगी न ? साल में एक बार महीने भर के लिए आ जाया करेंगे।"

मैं निरुत्तर हो गया। फिर बच्ची की आड़ लेते हुए बोला, "इसे देखो, बीमारी से सूखकर कांटा हो गई है। यहां बड़े-बूढ़ों का आसरा है। उनसे पूछकर देसी इलाज हो जाता है। वहां परदेस में भला अपना कौन होगा ?"

"यह कौन-सी नई बात है ? क्या हमने दवा-पानी में कुछ कमी की है ? जो होना होगा, वह तो टलेगा नहीं। बड़े-बूढ़ों का साथ आजीवन तो मिलने से रहा। और वहां भी तो लोग बसते हैं। ऐसा सुनहरा मौका फिर नहीं मिलेगा। क्या पता, वहां जाकर तकदीर खुल जाए। बच्ची की बीमारी का बहाना बनाकर यहां रहने का हठ मत कीजिए।"

सबकी सुन निकल पड़ा। अनजानी यात्रा। अनजाना देश। यह कैसा देश है ? जहां मीलों चलते चलो, फिर भी मैदान समाप्त नहीं होते ! एकदम सीधी सपाट जमीन। दूर-दूर तक छोटा-सा टीला तो क्या, सुपारी फोड़ना चाहो तो उसके लायक ढेला भी नहीं दिखाई देता। इन सपाट मैदानों को निहारते-देखते आंखें भी थक जाती हैं। यहां सूरज उगता है, सपाट क्षितिज से और अस्त भी हो जाता है तो सपाट क्षितिज में। पल भर रुकना भी चाहें तो कहीं ठौर नहीं।

बच्ची नींद से जग गई थी। जागते ही उसने रोना शुरू कर दिया। "इसे पकड़ना जरा। शायद भूखी है।"

मां ने उसे गोद में ले लिया और थपथपाती बोली, "बाहर कहां घूम रहे हो ?"

"यहीं...पर।"

"अंदर आकर बैठो"

"क्यों ?"

"अनजाना देश है। मेरा दम घुटता है।"

६/

कापूसतलनी स्टेशन पर तीनों उतरे। सामान उतारा। बाकी लोग टिकट देकर निकल गए। थोड़ी देर बाद गाड़ी भी अपनी राह चल दी। अब स्टेशन पर बचे थे, टिकटबाबू और एक बोभी। बोभी टिकटबाबू से बोला, "ये साहब कहां जावेंगे ? पूछो न उन्हें। टिकट है या नहीं ?"

"अगर तुम पूछ लोगे तो क्या कुछ बिगड़ जायेगा ?"

बोभी तात्या के पास पहुंचा। बोला, "भाई, कहां जाना है ? टिकट है ?"

तात्याजी ने कोट की जेब से दो टिकट निकाले, फिर पूछा, "दापुरा कितनी दूर है यहां से ?"

"दापुरा ? वह तो यही कोई छः-सात मील है यहां से। पर जाओगे कैसे ? अरे, हां ! इजारदार की बैलगाड़ी आई है बाहर, किसी मेहमान के लिए। उसी में चले जाओ।"

बोभी तेजी से बाहर निकल गया।

"अरे ओ आडकूजी ! ए पागल ! नींद आ गई क्या ? किसे लिवाने आया था ? अरे, ये भलेमानस दापुरा जाएंगे। लिवा ले जाएगा इनको ?"

बैलगाड़ी में अंगोछा बिछाए आडकूजी गहरी नींद सो रहा था। बोभी की आवाज सुनकर झट उठ बैठा। अंगोछे से मुंह पोंछकर हंसकर बोला, "देखो न रामदीन, नींद आ गई। अरे, कोंकन से स्कूल के मास्टरजी आने वाले थे न ! नहीं आए क्या ?"

"मास्टरजी ? अरे, कोई छोरा-सा आया है। कहता है, दापुरा जाना है। चलो जरा देख तो।"

आडकूजी दौड़कर अन्दर पहुंचा। बोभी के तात्याजी की ओर इशारा करते ही वह गर्दन हिलाकर बोला, "नई जी, ये तो नहीं है ! मास्टर... मास्टर, समजे क्या ? बड़ी मूंछें, पागोटी—समजे ?"

तात्या आगे आए। आडकूजी से बोले, "दापोरं..."

"हौ, दापुरं...वहीं का हूं जी मैं। इजारदार के घर का काम करता हूं। उन्हीं का नौकर हू। पर हमारे मास्टरजी नहीं आए क्या ?"

"मैं ही मास्टर हूं।"

दोनों हाथ आश्चर्य से मुंह पर रख लिये आडकूजी ने, "आप ही हौ का जी ? अरे बाप्पा ! मैं क्या जानूं। होंगे...जरूर आप ही मास्टरजी होंगे। आजकल तो छोटी उमर के बाबू भी मास्टर होते हैं। आप कब निकल पड़े कोंकन से ?"

"बाप्पा, यह मुनिया काहे को इतना रो रही है ? आपका सामान कहां है ? बस, जे जरा-सा ? कोई बात नहीं। आप चलो बाहर, मैं सारा ले आऊंगा।"

दोनों मिलकर सामान ले आए। आडकूजी ने गाड़ी जोती। पीछे की ओर सामान रखकर वह आगे आ बैठा। सरस्वती बच्ची को ले पीछे की ओर बैठ गई।

"मास्टरजी, आप आगे मेरे पास आ जाओ।"

"बैल मारेंगे तो नहीं ?"

"नहीं। चाहे पेट के नीचे खड़े हो जाओ। चाहो तो इनकी परीक्षा ले लो।"

इस प्रकार की परीक्षा लेना कुछ कठिन ही लगा। फिर देर

भी हो रही थी। तात्या चुपचाप आडकूजी के पास जा बैठे। गाड़ी चल पड़ी।

रास्ते में धूल काफी मात्रा में थी—सफेद धूल। बैलगाड़ी के दोनों पहियों के बीच जो जगह रास्ते में पड़ती है, उसमें कंटीली झाड़ियां। बैलगाड़ी के आवागमन से जो बन पड़ा, वही रास्ता। दोनों ओर झाड़ियां। अधिकांश बौनी, कांटों वाली। रास्ते से सटकर जो झाड़ियां थीं, उन पर पहियों से छिटका तेल और उस पर जमी सफेद धूल। कहीं-कहीं झाड़ी में अटके रुई के गुच्छे। एकाध बार बैलगाड़ी खेतों से होकर भी गई। खेतों की जुताई हो गई थी। कहीं ज्वार के खूंट तो कहीं रुई के सराटे पड़े थे। सभी कुछ धूल भरा था।

आडकूजी लगातार बोले ही जा रहा था। बीच-बीच में रोती बच्ची—मनु को—चुप कराने का प्रयास भी कर रहा था। फिर हारकर बैलों को उनके नामों से पुकार-पुकार कर हांक रहा था। चाहता था कि उनकी गति कुछ बढ़े। लंबे परन्तु दुबले-पतले बैल, आडकूजी की ओर ध्यान दिये बिना अपनी गति से चलते रहे।

तात्याजी का ध्यान उसके प्रश्नों की ओर बिलकुल नहीं था। कभी वे 'हां' कहते कभी 'न' कहते, बस! तात्याजी तो अपने ही विचारों में खो गए थे।

उनका मन खो गया था धरती-मां के विविध रूप-रंगों में। कहीं यह रूप 'रक्तवसना' तो कहीं 'पर्वतस्तनमंडला'। एक ओर पर्वतों की ऊंची श्रेणियां तो दूसरी ओर गहरी खाइयां। कहीं-कहीं पर्वत-श्रेणियां एक-दूसरे के पीछे छिप-सी गई प्रतीत होतीं। कितने ही आकार। कहीं इन श्रेणियों का रूप सपाट तो कहीं नुकीला। कहीं ऊंचा तो कहीं नीचा। कभी ये श्रेणियां एक के पीछे एक, कतारों में दीखतीं। कभी इनकी गहराई से, अगर झांककर देखने का यत्न किया, तो डर लगता है।

इन शृंगों के नीचे कभी-कभी नदी भी दर्शन दे जाती है। अपना रास्ता स्वयं बनाती, दौड़ती जलधारा। कहीं इसका पाट क्षीण है तो कहीं विशाल। कहीं ठहरा हुआ तो कहीं अत्यधिक वेग से दौड़ता हुआ इसका पानी।

नदी के दोनों किनारों पर छाई आम, नीम, इमली और सागौन की छनी छाया। कहीं-कहीं वह भी विरल। नदी से कुछ दूर बसी गांव की बस्तियां, जिनमें कुछ घास-फूस से छाये घर तो कुछ लाल खपरैलों वाले। वहीं किसी वृक्ष की छाया में बसे 'वीरगल' के स्मारक युद्ध में काम आए योद्धाओं की याद दिलाते थे। कहीं-कहीं सिंदूर से पुते बेतरतीब पत्थर।

खेतों की मेड़ों की अपनी एक विशिष्टता है, मानो वे चौकोर टुकड़ों को जोड़कर बनाई गई रंगबिरंगी गुदड़ी हों।

पहाड़ी क्षेत्र में ऊपरी सतह पर बने खेत सीढ़ीनुमा प्रतीत होते हैं, जैसे खेतों की यह मालिका सीढ़ियां उतर नदी से मिलने जा रही हो।

कभी-कभी यह चित्र इतना स्पष्ट उभर आता है कि दृष्टि इसे नापने में समर्थ, तो कभी इतना धूसर कि कुछ भी नहीं। जैसे परमात्मा, वैसे ही यह धरती। नजर थककर वापस लौट आती है, स्वयं में विलीन हो जाती है। शेष रहता है मात्र अव्यक्त, निरंजन!

सागर तट पर बसे किसी ऊंचे किले से झांकने पर दीखती हैं किनारे से टकराकर लौटतीं, थकी-हारी लहरें।

हर साल वर्षा ऋतु में नदियां अपने साथ अथाह जल-राशि ले आती हैं। चारों ओर से सागर में विलीन हो जाती हैं। फिर भी सागर अपनी मर्यादा में रहता है। अपनी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता, मानो किसी ने उसे शपथ दिलाई हो।

"क्या हुआ, आडकूजी?"

"कुछ नहीं, बैल की गर्दन से जुआ ज़रा सरक गया है। अभी ठीक करता हूं। आप रस्सी पकड़ोगे क्या?"

"लाओ, दो।"

जुए को अपनी जगह ठीक बैठा आडकूजी गाड़ी में आ बैठा।

"मास्टरजी...।"

"बोलो।"

"स्कूल में आपने दोई अच्छर पढ़े? 'हौ' और 'नाहीं'।"

"नहीं तो।"

तात्याजी कुछ हड़बड़ा-से गए थे।

"मैं तो तब से अकेला ही बोल रहा हूं। आप तो कुछ बोलते ही नई।"

तात्याजी मुस्कराए। एक हाथ उसके कंधे पर रखकर धीरे-से दबा भर दिया। आडकूजी की संवेदना जागी।

"मैं तो पागल हूं। मेहमानों के साथ तो थेई होना है। वे भला कहां ज्यादा कुछ बोलेंगे?" फिर मुड़कर बोला, "क्यों मास्टरनीजी, मुनिया सो गई दीखै। रोने की आवाज नहीं आ रही।"

सरस्वती ने हंसकर गर्दन हिला दी।

"का नाम है इसका?"

"मनु।"

"मनु! वाह! बड़ा अच्छा नाम है। आप भी जरा आराम करें, मास्टरनीजी।"

"मैं आराम से हूं।"

आडकूजी का मन बातों से भर गया। अब वह गाने लगा। संध्या हो चली थी। वृक्षों और बैलगाड़ी की परछाइयां लम्बी होती चली जा रही थीं। रास्ते में इक्का-दुक्का कोई मिल जाता तो गाड़ी निकलने तक एक ओर खड़ा हो जाता। आडकूजी उत्साह से बताता, "बड़ी दूर से आए हैं। मालिक के देस से।"

"अच्छा, अच्छा।" बैलगाड़ी चलती रहती। तात्याजी सोचने लगे: 'मातृभूमि का यह नया अपरिचित रूप। कितना विचित्र। बैलों के गले में बंधे घुंघरुओं के अतिरिक्त कोई दूसरी आवाज नहीं। न पंछियों की चहक। न कुत्तों के भौंकने की आवाज। सफेद मिट्टी से घरोंवाला एक गांव, खेड़ा पीछे रह गया। आडकूजी कहते हैं, अब दापुरा तक कोई बस्ती नहीं। कहीं-कहीं छितराई कंटीली झाड़ियां। कहीं दो-चार वृक्ष। कैसा बोझिल वातावरण है! धीरे-धीरे अंधेरा छाने लगा। नीला आकाश स्याह होता हुआ। बिखरती-उड़ती धूल।'

इतने में कोई जानवर भागता हुआ दिखाई दिया। आडकूजी बोला,

"कुछ नई, लोमड़ी थी। इधर लोमड़ियां बहुत हैं। आपके कोंकन में भी होती हैं क्या?"

"हां।"

सरस्वती झट तात्याजी से सटकर बैठ गई। तात्याजी ने पूछा, "क्या बात है? डर गई क्या?"

"कुछ नहीं।"

उन्होंने अपना हाथ उसकी गोद में रख दिया। धीरज बंधाने के लिए यही पर्याप्त था।

उसे अच्छा लगे, इसलिए 'ज्ञानेश्वरी' के बारहवें अध्याय का पाठ करने लगे।

उनका पाठ सुन आडकूजी आश्चर्य में डूब गया। बैलों को हांकना तक भूल गया। बैल परिचित रास्ते पर स्वयं ही अपनी गति से चलते रहे। जब अध्याय समाप्त हुआ तो दापुरा की बत्तियां दीखने लगी थीं। तात्याजी रुके, तो आडकूजी सांस छोड़ते हुए बोला, "मास्टरजी, आप क्या गा रहे थे?"

"ज्ञानेश्वरी का बारहवां अध्याय।"

उनके चरणों की धूलि लेते हुए आडकूजी बोला, "आप तो साधु पुरुष हैं। मैंने पहचाना नहीं।" इतना कहकर आडकूजी ने फुर्ती से उनके पैर छू लिये। तात्या थोड़ा सकुचा गए। उसे मना करना चाहते थे। उनकी बात सुने बगैर आडकूजी बोला, "मेरे सफेद बालों पर मत जाओ। अरंडी का झाड़ कितना ही बढ़े, उसे गन्ना तो नहीं कह सकते न?"

सकुचाए तात्याजी इस बात को आगे बढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। बोले, "गांव आ गया दीखता है।"

"हां जी! परले वाला बंगला अपना है। वहीं जाना है।"

एक विद्वान, साधु पुरुष मास्टरजी को लेकर आने का पुण्यकर्म अपने हाथों हुआ, इसी के असीम आनन्द में डूबा आडकूजी गांव का फेरा लगा, गाड़ी ले, घर के सामने आ खड़ा हुआ। रास्ते में जो भी मिलता गया, उसे मास्टरजी के बारे में बताता, प्रशंसा करता हुआ आया।

बंगले में बाहर के बरामदे में एक बड़ा कुत्ता बंधा था। वह जोर-

जोर से भौंकने लगा। वहीं सीढ़ी पर हाथ में लालटेन लिये अजाबराव बैठा था।

"बड़ी देर कर दी बे आडकू।"

"गाड़ी देर से आई। पर मैं कहूं...।"

"बैलगाड़ी यहीं से पीछे की ओर घुमा दो। बड़े कुएं के पास जो रुई का गोदाम है, उसी के पास की दो कोठरियां मालिक ने मास्टरजी के लिए तय कर दी हैं। इन्हें वहीं ले जाओ। सामान कोठरी में रख देना। समझे ?"

संतरे-मौसमी के पेड़ों से होती हुई बैलगाड़ी बंगले के पीछे, गोदाम के पास पहुंची।

"आ गया जी, आपका घर। पधारो, महाराज।"

कुत्ते के एक छोटे पिल्ले के अतिरिक्त वहां तात्याजी के स्वागत के लिए कोई और न था। वे नीचे उतरे। सरस्वती से बोले, "भई, उतरो भी।" नीचे उतरते ही मनु की नींद टूट गई। उसने फिर रोना शुरू कर दिया।

७/

इजारदार के बंगले का दीवानखाना। शीशम की बनी लम्बी-चौड़ी, सिंहासन-नुमा कुर्सी। कुर्सी पर बिछी हिरन की खाल। सामने की दीवार पर सजा जंगली भैंसे का सिर। कुर्सी के पीछे जॉर्ज पंचम तथा रानी मेरी की बड़ी-सी तस्वीर। जरी-तारों से बने रंग-बिरंगे हार से सजी तस्वीरें। पास ही टंगा था एक फ्रेम, जिसमें ऊबड़-खाबड़ कढ़ाई में एक मोर कढ़ा था।

इजारदार बर्वे कुर्सी पर विराजमान थे। चांदी के गिलास से दूध पी रहे थे। मूंछों में अटकी मलाई को जीभ से चाट मूंछें साफ रखने का प्रयत्न कर रहे थे। पास में ही दीवानजी खड़े थे। हिसाब-किताब चल

रहा था। इजारदार अपनी भारी आवाज में बोले, "इतने सालों से हिसाब-किताब कर रहे हैं आप, पर रहे अक्ल के दुश्मन !"

आडकूजी और उसके पीछे तात्या बरामदे में पहुंचे। तात्याजी ने आते ही इजारदारों को पहचान, अस्फुट स्वर में उन्हें नमस्कार कहा। पास ही दो खाली कुर्सियां पड़ी थीं। तात्या समझ नहीं पा रहे थे कि खड़े रहें या कुर्सी पर बैठ जाएं।

इजारदार ने अपनी पीली कंजी, तीक्ष्ण आंखों से क्षणभर तात्याजी को निहारा। फिर अनदेखा कर दीवानजी को डांटते रहे :

"आपके पल्ले बाल-बच्चे न बंधे होते तो कब का निकाल बाहर कर दिया होता। हाथ में कटोरा ले दर-दर घूमने की नौबत आ जाती। जाइए, फिर हिसाब लगाइए।" उन्होंने फिर एक घूंट दूध पिया। मौका देखकर आडकूजी ने झुककर सलाम किया।

"मालिक, मास्टरजी आए हैं। एकदम साधू हैं। पूरी गानेसुरी..."

हिकारत भरी नजरों से आडकूजी को देखकर इजारदार तात्याजी की ओर मुड़े, "कहिये, यात्रा कैसी रही ?"

"ठीक ही रही।"

"आपका नाम ?"

"गणपत भिकाजी खरे।"

"कब निकले कोंकण से ?"

"परसों।"

"कविता लिख सकते हैं या नहीं ?"

इस प्रश्न की ओर अधिक ध्यान न देकर तात्या तपाक से बोले, "कवित्व परमपिता परमेश्वर की देन होती है। मेरा अभाव..."

तात्या शब्दों के अभाव के बारे में बोल रहे थे। वे और भी कुछ कहना चाहते थे। इजारदार की मोटी बुद्धि में अभाव का अर्थ दूसरे रूप से घुसा। तात्याजी की बात बीच में ही काटते हुए बोले, "आप निर्धन हैं, यह तो मैं भी जानता हूं। परन्तु मंदारमाला या वह...क्या कहते हैं उसे...क्रीड़ित या ऐसा ही कुछ..."

"शार्दूलविक्रीड़ित।"

"हां, वही। इसका मतलब यह हुआ कि आप काव्य की समझ रखते हैं। हम भी थोड़ा-बहुत जानते हैं। आप कच्चा काम कर दिया करें, हम उसे सुधार लिया करेंगे। चित्रकारी तो जानते हैं न ?"

"कभी किया करता था।"

"गणेशजी की झांकी तो सजा लेते हैं न ? और हां, आपको अंग्रेजी आती है या नहीं ? हमारे पास अक्सर हिज एक्सलेंसी गवर्नर साहब, कमिश्नर साहब आदि के पत्र आते रहते हैं। आडक, लाना ज़रा। अच्छा रहने दो। हां, तो अंग्रेजी आती है न ?"

"कामचलाऊ जानता हूं !"

"कामचलाऊ नहीं चलेगी। अंग्रेजी का नालिज परफेक्ट होना चाहिए। हमारे फॉन्सेका साहब कहते हैं...क्या कहते हैं भला ? अच्छा रहने दो। 'पार्लियामेंट' की स्पेलिंग बताइये।"

"पी ए आर एल आय ए एम ई एन टी।"

"करेक्ट, मन लगाकर काम कीजिए। हमारे यहां बड़े-बड़े लोग आया-जाया करते हैं। कभी-कभार आपकी पहचान करवा दिया करेंगे। पाठशाला तो मात्र बहाना है। मतलब, वहां भी ध्यान देना होगा। ड्यूटी फर्स्ट, समझे न ? हमारा ध्यान वैसे चारों ओर रहता है। अच्छा, जाने दीजिए। आपकी सारी व्यवस्था हो गई न ? किसी वस्तु की आवश्यकता पड़े तो अजाबराव से बोल दीजिए। आपकी सुविधा का ध्यान रखना ही होगा। हमारी ससुराल के गांव से जो आए हैं। ससुराल से तो आया काला कुत्ता भी..."

अपने इस विनोद पर इजारदार स्वयं ही ठहाका मार कर हंस पड़े। गिलास से दूध नीचे गिर गया। दो-चार और लोग भी हंस पड़े हैं, इसका आभास उन्हें हुआ। फिर उन्हें ध्यान आया कि वे कुछ अधिक ही हंस-बोल पड़े थे। फौरन गंभीर हो गए। अपनी पीली कंजी आंखों से उपस्थित लोगों को घूरा। फिर तात्याजी की ओर मुड़ गए, "मालकिन से भेंट हुई ?"

"नहीं, पत्नी जाने वाली है कुछ देर बाद।"

"अरे, सुबह ही मिल लेना था। फिर वे पूजा-पाठ में लग जाती हैं।"

"बच्ची रो रही थी सो..."

इजारदार की तीखी नजरें तात्याजी के चेहरे पर टिक गईं।

"तो आपकी बच्ची भी है ? वह भी रोने वाली ?"

जवाब आडकूजी ने दिया, "धन्न हैं ये मां-बाप। कैसे सम्हालते होंगे उसको, ये ही जानें। मैं तो एक दिन में ही तंग आ गया। रोना ऐसा जैसे साहूकार का ब्याज। बढ़ता ही जावे है।" इजारदार कुछ अप्रसन्न नजर आए। बोले, "रोने वाले बच्चों से हमें चिढ़ है। बच्ची को बंगले कभी मत लाना। आडकू, मास्टरजी को स्कूल दिखाओ। अब आप जा सकते हैं।"

उसी क्षण तात्याजी के मन में विचार आया कि यहां से कहीं दूर भाग जाएं। उनसे कहें कि ऐसी नौकरी मुझसे नहीं होगी। मैं इस वातावरण में कुछ नहीं कर पाऊंगा। उनके मनोभावों को अनपढ़ आडकूजी पल भर में पढ़ गया। बंगले से बाहर निकलते ही अपने खुरदरे मोटे हाथ में तात्याजी की कोमल हथेली लेकर असीम स्नेह से बोला, "का जी साधुबाबा, इत्ती-सी बात से गड़बड़ा गए ! इसी को संसार-चक्र कहते हैं। ऐसे धक्के तो लगते रहते हैं। मालिक का बोल ऊंचा-नीचा। उसकी ओर भला कोई ध्यान देता है ? जैसा आकाश से पानी बरसना वैसा मालिक का बोलना। मेहनत का बीज ही तो खेतों में अनाज पैदा करता है। मेहनत न की जाय तो मिट्टी में जंगली पेड़ ही उगते हैं। इतनी जल्दी मत घबराना। चलिये, आपको स्कूल दिखा दूं। स्कूल काहे का ? जब कोई बड़ा साहब आने वाला होता है तो सारे लड़के आ जाते हैं। और दिनों तो वे ढोरों के पीछे भागते फिरते हैं। और करें भी क्या ? आप फिकर मत करो। मैं हूं न आपके संग।" पानी में डूबती नैया को आडकूजी की पतली पतवार ने उबार लिया।

तात्याजी के पहले दो बच्चे अधिक दिन न जी सके। मनु उनकी तीसरी तथा अंतिम संतान थी। समय से पहले ही उसका जन्म हो गया था। एकदम दुबली-पतली काया। जन्म के बाद रोने तक की शक्ति नहीं। दाई ने खूब हिलाया-डुलाया। ठंडे पानी के छींटे जब मुंह-शरीर पर जोर-जोर से मारे तब जाकर कहीं आवाज खुली।

मनु की इस दशा को देख तात्या भारी मन से कहते, "यह सब क्या है ?"

सरस्वती उसे आंचल में छुपा लेती। कहती, "सभी छोटे बच्चे ऐसे ही होते हैं। मनु उम्र के साथ सुधार जाएगी। अच्छी लगने लगेगी। इसकी आंखें तो देखो ! कैसी सुंदर हैं !"

मनु की बड़ी-बड़ी काली आंखें सचमुच सुंदर थीं। संध्या समय जब घर में बत्ती जलती, मनु को नींद आने लगती। सुबह उठते ही रोना शुरू कर देती। कितना ही घुमाओ-फिराओ, डराओ-धमकाओ, उसका रोना बंद नहीं होता था।

तात्याजी उसे गोद में लेकर घूमते। पद, गीत, श्लोक सुनाते। कोई छेड़ता, "दो सुरों का क्या प्रयोजन ?"

तात्या हंसकर कहते, "हमारे कोंकण में सागर किनारे गणेश मंदिर है। मंदिर में मन्त्रोच्चार के साथ अभिषेक संपन्न होता है और उसी समय सागर की गर्जना भी उसमें सम्मिलित हो जाती है। ठीक वैसी ही बात यह है।"

अच्छी सेहत के लिए मनु को कितनी ही दवाइयां पिलाई गईं। जड़ी-बूटी, काढ़ा-चूर्ण, आसव आदि सबकुछ। उस गांव-खेड़े में जो संभव हो सकता था, वह सब किया गया। परन्तु मनु की सेहत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। निरंतर रोना उसके जीवन का अंग बनकर रह गया। कोई गृहिणी कहती, "इस पर कुछ उतार करो। लगता है, नजर लग गई है।"

इस 'नजर' वाली बात का तात्या तीव्रता से विरोध करते। कहते, "नहीं, ऐसा कुछ नहीं होता है। मनुष्य पूर्व-संचित कर्मों को लेकर जनमता है। विधाता ने भाग्य में जो लिख दिया, उसे भोगना अनिवार्य है।"

८

दो कमरों का मकान। एक में रसोई, दूसरे में बैठक। बाहर बरामदा। सामने एक छोटा-सा आंगन। घर से सटा हुआ रुई का गोदाम। घर के सामने बड़ा कुआं। कुएं पर नीम का घना पेड़। एक तरफ अमरूद तथा गुड़हल के कुछ पेड़। नए घर में सामान करीने से रखने में दो-चार दिन लग गए। लकड़ी का एक चौड़ा तख्ता आडकूजी कहीं से ले आया था। तात्याजी ने आडकूजी की सहायता से उसे दो खूंटों पर पक्का बांध दिया। पुस्तकों के लिए आलमारी बन गयी। तात्याजी ने अपना पुस्तकों वाला बक्स खोला। पुस्तकें पुरानी थीं। अधिकांश लोगों से मांगकर एकत्र की गई थीं। कुछेक बम्बई के पुराने बाजार से, सस्ती होने के नाते, मंगवाई थीं। पुस्तकों के इस भंडार में आर्यभारत, यथार्थदीपिका तथा कुछ स्फुट-काव्य थे। साथ में वामन पंडित, श्रीधर, मीरा, कबीर, सूरदास आदि भी थे। नित्यपाठ के लिए 'तुकाराम गाथा' और 'ज्ञानेश्वरी' थी। कई ग्रंथ अत्यन्त जीर्ण अवस्था में थे। तात्याजी ने अपने मोतियों से अक्षरों से उन ग्रंथों का पुनर्लेखन किया था। जीर्ण-पुराने ग्रंथों की अब आवश्यकता न थी। फिर भी वे उन्हें मोहवश संजोए हुए थे। विभिन्न ग्रंथों के अवतरण, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय थे, मन लगाकर अपने हाथों से लिखा करते। इस पुनर्लेखन में वे खो जाते। उन्हें लेखन में इस कदर खोया देख सरस्वती ठंडी सांस भरती। तात्याजी पूछते, "क्या बात है ?"

"कुछ नहीं !"

"फिर ठंडी सांस क्यों भर रही हो ?"

"मैं कह रही थी..."

"बोलो न ! संकोच मत करो।"

"मैं कह रही थी कि जितना मन इस काम में लगाते हो, उतना यदि गृहस्थी में लगाते तो..."

तात्याजी पल भर के लिए गंभीर हो उठते। कहते, "अरे, यह

गृहस्थी तो शतछिद्रों वाला अभिषेक-पात्र है। कितना ही जल भरो, वह भरनेवाला नहीं। शाश्वत की ओर ध्यान दो, अशाश्वत में मत अटको।"

"ये जीर्ण पुस्तकें शाश्वत हैं क्या ?"

"यह तो ऊपरी कवच है। शाश्वत तो इनके अन्दर समाया है। उसी का सारा वर्णन इन ग्रंथों में है।"

सरस्वती ठंडी सांस छोड़कर कहती, "ये ग्रंथ एक पैसे का मिर्च-मसाला भी नहीं जुटा पावेंगे। क्या उपयोग है इन ग्रंथों का ?"

तात्याजी आग्रहपूर्वक समझाते, "मिर्च-मसाले के लिए भला कोई धरती मां-सी अमूल्य वस्तु बेच देता है ? अच्छा रहने दो। लगता है, मनु जाग गई है, उसे देखो।"

तात्याजी ने सारे ग्रंथ अलमारी में करीने से सजा दिए। एक ओर मोटे पुराने ग्रंथ तो दूसरी ओर बाल कवि, दत्त, तिलक, केशवसुत, कवि माधव आदि की पुस्तकों को सजाया। जब सबकुछ व्यवस्थित हो गया तो अलमारी को संतोष भरी नजरों से देखते रहे। तभी बंगले से आडकूजी आ गया।

"मास्टरजी हैं क्या ?"

"क्या बात है ?"

"गानेसुरी है आपके पास ?"

तात्याजी के प्राण सूख गए। सहमकर बोले,

"ज्ञानेश्वरी का क्या करना है ?"

"मालिक की बड़ी मौसीजी आई हैं, उन्होंने मंगवाई है।"

तात्याजी के माथे पर बल पड़ गए। मन अप्रसन्न हो गया। चेहरा उतर-सा गया। सरस्वती बोली, "दे दीजिए। मैं कल उनके यहां गई थी। आपकी बड़ी प्रशंसा कर रही थीं, 'इतनी छोटी उमर में ज्ञानेश्वरी के प्रति यह कैसा अनुराग।' नित्य ज्ञानेश्वरी पढ़ने का नियम है उनका। कल नहीं पढ़ पाईं।"

तात्या ने दुखी मन से कहा, "नित्य नियम है तो अपना ग्रंथ साथ रखना चाहिए।" फिर आडकूजी के हाथों में ग्रंथ देते हुए बोले,

"सम्हालकर ले जाना। और हां, काम हो जाने पर वापस ला देना याद करके।"

वे रोज सरस्वती से पूछते, "मौसी कितने दिन ठहरेंगी ?"

"क्यों, कितने ही दिन रहें ! धेवते का ही घर है।"

"वे चाहें वर्षों यहां रहें, पर..."

"आपकी ज्ञानेश्वरी न ? वे जरूर लौटा देंगी।" सरस्वती हंसकर कहती।

एक दिन तात्याजी को खबर मिली कि मौसी अपने घर वापस लौट गई हैं। स्वयं आडकूजी उन्हें स्टेशन छोड़ आया था। जैसे किसी ने दिल में छुरा भोंक दिया हो, ऐसी असहाय स्थिति हो गई उनकी। सरस्वती से बोले, "तुम अभी जाकर मेरा ग्रंथ ले आओ।"

"अभी-अभी तो मौसी गई हैं। फौरन पुस्तक लाने दौड़ पड़ना कहीं अच्छा लगता है ? फिर मनु भी रो रही है।"

"मनु को मैं सम्हाल लूंगा। तुम फौरन ग्रंथ ले आओ।"

कुछ ही देर में खाली हाथ, मुंह लटकाए, सरस्वती लौटी। वह जानती थी कि पति के लिए ज्ञानेश्वरी कितनी अमूल्य है। जीवन से अधिक प्यार, स्नेह तो उन्हें ज्ञानेश्वरी से है। आते ही बोली, "मालकिन तंद्रा में थीं। उनींदी आंखों से ही पूछा, 'क्या चाहिए ?' मैंने बात बता दी। उन्होंने जवाब दिया, "अच्छा मोटे अक्षरों वाला ग्रंथ था। चश्मा लगाने की जरूरत नहीं पड़ती थी, सो वे उसे साथ ले गईं।"

९/

अध्यात्म में लीन तात्याजी कभी-कभी परेशान हो जाते। सरस्वती के बीमार पड़ने पर तो उनका दुःख दूना हो जाता। मनु का रोना, काव्यरस में डूबे तात्याजी को विचलित कर देता। सभी कुछ बेसुरा लगने लगता। सारे रंग फीके पड़ जाते। उठते हुए कहते, "लाओ, उसे मुझे दे दो।"

"पड़ी रहने दो मेरे ही पास। यह रोना तो रोज का ही है।" फिर सरस्वती उठती। एक कथरी बरामदे में बिछा, मनु को उस पर लिटा देती। साथ में एकाध पुराना खिलौना रखकर कहती, "अब बजने दो बाजा! जी भर के रो ले।"

आंगन के दूसरे छोर पर घना नीबू का वृक्ष था। चैत में वह बौर से लद जाता। वातावरण में सुगंध फैल जाती, जिससे आकर्षित हो बंदरों की पूरी फौज ही आंगन में आ धमकती। सारे दिन पेड़ों पर कूदते, धमा-चौकड़ी मचाते। कभी पूंछ लटकाकर टहनियों पर बैठ जाते।

नीम के बौर निबौरी का रूप धारण करते। उनका स्वाद बंदरों को बिलकुल न भाता। तब वे पेड़ की टहनियों को जोर-जोर से हिलाते। निबौरियां नीचे गिराते। बंदरों का यह ऊधम कोई महीने भर चलता। बंदरों की उस टोली में एक बूढ़ी बंदरिया भी थी। उसकी पलकों के बाल तक आंखों पर लटकने लगे थे। पूंछ भी कटी थी।

एक दिन मनु हमेशा की तरह कथरी पर लेटी थी। बंदरिया ने उसे देख दांत निपोरे। फिर मुंह बनाने लगी। एक-दो बार मनु की ओर छलांग लगाने का नाटक भी किया, मानो मनु का लगातार रोना उसे अच्छा नहीं लग रहा हो। मनु भयभीत होकर जोर-जोर से रोनी लगी। सरस्वती ने दौड़कर मनु को छाती से चिपका लिया। बंदरिया गुस्से में भरकर दूर डाली पर जा बैठी। उसी समय तात्या स्कूल से लौटे थे।

बोले, "क्या हुआ?"

बंदरिया के गुस्से का कारण सरस्वती समझ गई थी।

बोली, "कुछ नहीं, मनु बंदरों से डर गई।"

"बंदर झपटा तो नही उस पर?"

"नहीं।" फिर सरस्वती ने कहा, "हंसता बच्चा सारी गली का, रोता बच्चा किसी का नहीं, बंदरों तक का नहीं।"

कथरी पर पड़ी मनु की स्वर-साधना एकाएक कुछ धीमी पड़ गई। उसने देखा, आज फिर बंदरों की एक टोली आई है। एक बंदरिया के साथ उसका छोटा बच्चा भी है। प्यारा-सा। मनु उसे देखकर रोना भूल गई, खुश हो गई। बंदरिया बच्चे को अपने से अलग नहीं होने देती थी। कसकर छाती से चिपका लेती थी। मां के हाथों से छूटने की बच्चा बार-बार कोशिश करता। बंदरिया का ध्यान हटते ही धीरे-से छिटक जाता। इधर-उधर कूदता-फांदता। चारों ओर आश्चर्य से देखता। उसकी बड़ी-बड़ी गोल आंखें विस्मय से और अधिक बड़ी हो जातीं। डाली से कोई बंदर उसे पकड़ने दौड़ता तो वह दौड़कर मां से जा लिपटता। उसे कसकर पकड़ लेता। बंदरिया प्यार से उसे दो-एक धौल जमा देती। वह और अधिक चिपक जाता। वहीं से मुड़-मुड़कर बड़ी-बड़ी विस्मित आंखें चारों ओर घुमाता।

जंजीर से बंधा इजारदार का कुत्ता जोर-जोर से भौंकने लगता। पंजों से जमीन कुरेदता। कुतिया और उसके पिल्ले बंधे न होने के कारण भौंकते हुए बंदरों की ओर दौड़ते। पहले तो बंदरों का ध्यान उस ओर नहीं गया। फिर दो-चार बंदर बंदरिया के पास जाकर, कुत्तों को मुंह बिचकाकर, दांत निपोरकर, उनका सामना करने लगे। बंदर पेड़ पर और कुतिया तथा पिल्ले जमीन पर। शोरगुल होता रहा। बंदरिया बच्चे को ले सबसे ऊंची टहनी पर जा बैठी। बच्चा पेट से चिपककर कौतुक से नीचे खड़ी कुतिया की ओर देखने लगा। कुत्ते-बंदरों की इस लड़ाई से मनु का ध्यान बंट गया। इस युद्ध को देखने के लिए अपनी अखंड स्वर-साधना बंद करने की आवश्यकता उसे पहले कभी नहीं पड़ी थी। परन्तु टोली के इस छोटे-से सदस्य ने उसको आकर्षित कर लिया था।

अंदर सरस्वती सब्जी काट रही थी। मनु की आवाज न सुन उसे लगा, वह सो गई होगी। दरवाजे से झांका तो पाया, मनु बंदर के बच्चे को एकटक मुग्ध नेत्रों से निहार रही थी। कुत्ते जब थक गए तो वापस चले गए। कुत्तों के हटते ही बंदरों की टोली भी कूदते-फांदते वहां से भाग खड़ी हुई। बच्चा भी मां के साथ आंखों से ओझल हो गया। मनु ने फिर रोना शुरू कर दिया। उसे लाड़ से उठाते हुए सरस्वती बोली, "इतनी देर बंदर के

बच्चे से मन लगा रहा क्या ?" मां के कंधे से चिपकी मनु ने मानो हुंकार कर हामी भर दी। उसे थपथपाते सरस्वती बोली, "हमें क्या पता था, कि हमारी रानी बिटिया को वह बच्चा अच्छा लगता है। हम उन्हें फिर बुलवाएंगे।"

अब मनु थोड़ा-बहुत बोलना सीख रही थी। उसकी तुतलाती बोली कुछ समझ में आती, कुछ नहीं आती। खाना खाते समय रोना बंद रहता था। उसी समय सरस्वती उसे थोड़ा-थोड़ा सिखाया करती। एक बात ध्यान में आई कि लड़की तेज बुद्धि की है। एक बार का बताया याद रखती है। आई, तात्या, बाप्पा, माऊ, काऊ सारे शब्द साफ बोलने लगी। अब सरस्वती उसे कुछ बड़ी बातें भी सिखाने लगी :

"बोलो, हफ्ते में दिन सात।"

"बोलो, अप्ते में दिन थात।"

"राशी बारह।"

"लाशी बाला।"

"नक्षत्र सत्ताईस।"

"नच्छद्दत्त थत्ताईथ।"

"महीने बारह।"

"मईने बाला।"

"चैत्र, वैसाख..."

"तैत्त्र, बैछाख..."

थोड़े समय में मनु ने बहुत कुछ कंठस्थ कर लिया। हफ्ते के वारों से जो गाड़ी छूटती तो ठेठ दिसंबर पर जाकर रुकती। फिर मां से पूछती, "अब आगे क्या कहूं ?" सरस्वती प्यार से गद्गद होकर कहती, "मेरा राजा बेटा!"

तात्याजी को पाठशाला जाना होता, अत: वे भोजन भी जल्दी करते। उनके भोजन के समय मनु रोए नहीं, इसलिए सरस्वती उसे ओसारे में बिठा देती। उनके जाने के बाद अपनी थाली परोस बेटी को गोद में ले खाना खाती, उसे खिलाती। भोजन के साथ-साथ पढ़ाई भी चलती, रोना भी चलता।

सरस्वती कहती, "बीच में यह रोना-धोना क्यों ?"

मनु रोना छोड़कर कहती, "रोना-धोना क्यों ?"

सरस्वती उसके जूठे गालों को प्यार से चूमकर कहती, "सास आई है मेरी कोख से, रही सही कसर पूरी करने!"

१०/

एक दिन सरस्वती को चावल साफ करने थे। मनु को ओसारे में बैठाकर वह काम में लग गई। तभी छत के एक झरोखे से धूप की एक किरण मनु के पास आ पहुंची। धरती पर पड़ा किरण का वह गोल-गोल चंदवा मनु को बड़ा अच्छा लगा। उस छोटे-से गोले को वह एकटक निहारती रही। तात्याजी, कागज पर जिस काले रूल से सीधी लकीरें खींचते थे, उस रूल जैसी पकड़ में आने वाली चीज नहीं थी। हाथ सहजता से उसे पार कर जाता था। और वह जैसी-की-तैसी बनी रहती। चंदवा पास में चमक रहा है। कितना आश्चर्य! कितना विस्मय! एक जगह न रुकने वाला, इधर-उधर घूमता, यह कैसा है ? इसके बीच यह क्या चमक रहा है ? मां ने चंदामामा के घर का बड़ा-सा धनुष दिखाया था। मनु के फैले हाथों में वह कहां समा पाया! कहीं यह वही धनुष तो नहीं ? कहीं यह खुद चंदामामा तो नहीं ? कल-परसों ही तात्याजी के कंधे पर बैठ अपनी छोटी-सी हथेली के इशारे से कहा था, "चंदामामा, चंदामामा...आ...आ...आ।"

अभी तक यह चंदोवा छाती पर था। अब सिर की ओर सरक रहा है। एक जगह रुकता क्यों नहीं ? इधर-उधर भाग क्यों रहा है ? फिर उसका ध्यान छत की ओर गया, जहां से यह किरण एक मकड़ी के जाले से होती हुई नीचे की ओर आई थी। जाले का एक-एक तार मनु को स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उसमें फंसी एक मक्खी भी दिखाई दी। जाले से मुक्ति पाने के लिए ज्यों-ज्यों वह मक्खी प्रयत्न करती, अधिकाधिक फंसती चली जाती। एक तार से लटकी थी मकड़ी। दूर से मक्खी का

तड़पना देख रही थी मनु । उसे मकड़ी पर बहुत गुस्सा आया। वह उसे अपने नन्हे-नन्हे हाथों से मारना भी चाहती थी । पर मकड़ी उसकी पहुंच से परे थी । अंत में उसने आंखें मूंद ली । मां की आवाज सुनाई दी, "बेटी, सो गई क्या ?"

झट आंखें खोल वह धीरे-से मुस्करा दी। पास आकर मां बोली, "आज मेरी रानी बिटिया चुप कैसे है ?"

मनु ने बिंब की ओर इशारा किया, "यह क्या है ?"

"वो, वो, बिंब है बेटी ।"

"चंदामामा नई ?"

"नहीं बेटी, किरण-बिंब ।"

"ये क्या होता है ?"

मां सोच में पड़ गई, कैसे इसे इसका अर्थ समझाऊं ? मनु फिर बोली, "छूलज का बच्चा ?"

मां ने विस्मय से उसकी ओर देखा। मनु ने फिर कहा, "बंदल के बच्चे जैसा ?"

बच्ची की यह बुद्धि और समझ देख सरस्वती का मन भर आया। उसे अपने छाती से लगाकर चूमती हुई बोली, "हां, मेरी बच्ची, यह सूर्य का बच्चा ही है ।"

उस एक किरण ने मनु का सारा संसार ही बदल डाला । आसपास की गतियों से वह परिचित होने लगी। हिलने-डुलने वाली, रंग और आकार बदलती वस्तुओं से वह परिचित होती गई। ओसारे में लेटे-लेटे वह नीम के पेड़ के परे नीला आकाश देखती। कितना विशाल था वह। गर्दन ऊंची उठाकर ऊपर चारों ओर देखो, फिर भी आकाश दीखता ही रहता । सीमाहीन। बड़ी-बड़ी काली आंखों से वह नीला आकाश देखती रहती । ऊंचे आकाश में उड़ती चीलें, थोड़ा निकट कौओं की छोटी उड़ानें, फिर हवा में तैरते बगुलों की धवल पंक्ति । मनु इन सबका पीछा करती अपनी नजरों से ।

किसी-किसी दिन हवा जोरों से चलती । वृक्ष-टहनियों को झकझोरती हवा छप्पर पर बिछी घास को उड़ा ले जाने की सोचती। पर

ले जा पाती सिर्फ कुछ तिनके, सूखे पत्ते और धूल, जो बाद में चक्राकार घूमते और चारों ओर बिखर जाते। कभी उस नीले आकाश में किसी अनजानी दिशा से बादलों के गुच्छे तैरते चले आते । उनके आकार भी बड़े अजीब ! कभी घोड़ा तो कभी हाथी बने विचरते । कभी पहाड़ों जैसे लगते तो कभी कुछ । अत्यंत विस्मय और कौतूहल-भरी आंखों से मनु उन्हें देखती । उसकी बोलती काली आंखों से ऐसा जान पड़ता, मानो यह टूटना, बिखरना, रंग-रूप, आकार बदलना सब वह समझ पा रही है। इस सबका कुछ-न-कुछ अंश उसकी आंखों से अंदर उतरता प्रतीत होता, मानो अपनी छाप उसके अंतरंग में छोड़ता जा रहा हो ।

११/

सांझ ढले तात्याजी पुराने बारदान से बनी आरामकुर्सी पर ज्ञानेश्वरी का ग्रंथ हाथों में लिए चिंतन में तल्लीन थे । तेरहवें अध्याय का चिंतन-मनन हो रहा था । एक नई बात उनकी समझ में आई । बौद्ध अनुयायियों ने महाराष्ट्र में अनेक गुफाओं का निर्माण किया था, परंतु संत ज्ञानेश्वर के काल में इस पंथ का कोई नामो-निशान न रहा। बौद्ध धर्म या उस मत का 'ज्ञानेश्वरी' में उल्लेख नहीं के बराबर था । परन्तु तेरहवें अध्याय की टीका में जैन धर्म और पंथ के बारे में दो जगह स्पष्ट उल्लेख था। तीसरे श्लोक में और अहिंसा के निरूपण में ।

उन्हें आश्चर्य हुआ कि जिन बौद्ध अनुयायियों ने पूरे सह्याद्रि मंडल को गुफाओं की सृजनता से मानो मधुमक्खी का छत्ता-सा बना दिया, वे कहां खो गए ? बिल्कुल निःशेष हो गए ! और यह जैन-मत कैसे बना रहा ?

इतने में आडकूजी आया । खम्भे से लगकर उंकड़ू बैठ गया। फिर सिर खुजलाते हुए बोला, "बुलावा आया था ।"

"किसका ?" विचारों में खोए तात्याजी ने आश्चर्य से पूछा ।

"बाप्पा ! आपको पता नईं, क्या ?"

"क्या ?"

"साहब आ रहा है न कल। खेतों में हुरड़ा खाने !"

"कौन साहब ?"

यहां आने वाले सभी साहब होते हैं। साहब संबोधन किसके लिए है, यह तात्या जानना चाहते थे।

"तहसील वाली कोरट के। जज साहब के दफ्तर के बड़े बाबू।"

"आने दो।" तटस्थ भाव से तात्या ने कहा, "आने वाले आएंगे, खाने वाले खाएंगे..."

आडकूजी धीमी आवाज में बोला, "एकदम डाकू आदमी है। कोरट में बहनोई का केस पेपर निकलवाना था। इत्ते दे दो, बोला।" आडकूजी ने एक उंगली खड़ी कर संकेत किया।

"आजकल सभी जगह यही हो रहा है, आडकूजी। क्या कर सकते हैं हम ?"

"मैं कहूं, खाते हो तो खाओ, पर काम भी तो करो ! काम-वाम कुछ नई किया। उनका रूप देखो, बिल्कुल महंत बने फिरते हैं। माथे पर तिलक, सिर पर पगड़ी...लच्छन चोरों के !"

इतने में लालटेन लिये दूसरा नौकर आ पहुंचा। बोला, "आपको बुलाया है मास्टरजी !"

"संध्या-जाप तो कर लूं, आता हूं।"

"नई जी, फौरन चलो।"

कुछ अप्रसन्न भाव से, सरस्वती को बताकर वे बंगले पहुंचे।

इजारदार ने उन्हें अपने पास बुलाया था, उनकी आवाज आज कुछ धीमी थी। बोले, "कल परीक्षा है आपकी। देखें, कितनी सफलता प्राप्त करते हैं।" पल भर उन्होंने मास्टरजी को घूरा, फिर बोले, "कल सारा दिन व्यस्त रहूंगा मैं। आप एक ऐसी कविता, बना लायें कि साहब एकदम प्रसन्न हो जायं। समय के अभाव में मैं उसमें कोई सुधार नहीं कर पाऊंगा। अब आप जा सकते हैं।" इतना कहकर इजारदार अंदर चले गए।

तात्याजी वहीं खड़े रहे। बहुत क्रोध आया। लगा, कह दें, "यह काम मुझसे हरगिज नहीं होगा ?" वे मुड़े भी, पर तभी इजारदार की आवाज सुनाई दी, "चलो रे, खाना खा लो। मुझे फिर बाहर जाना है !" तात्याजी वहीं ठिठक गए।

१२/

बड़े बाबू के लिए बैलगाड़ी की खास व्यवस्था की गई थी। कई बार निमंत्रित कर चुके थे इजारदार उन्हें, और आज पूरे कुटुंब के साथ वे पधारे थे। स्नान-ध्यान के बाद इजारदार, बड़े बाबू का परिवार तथा अन्य सभी मेहमान बैलगाड़ी पर सवार होकर नजदीक के खेतों की ओर निकल पड़े। अमीरी के प्रदर्शन का एक भी मौका इजारदार छोड़ना नहीं चाहते थे।

खेत में भुट्टों का ढेर लगा था। झगरे सुलगे। दरियां-जाजम बिछे। तबला-पेटी लिये गांव के कुछ गवैये भी आ पहुंचे। तिल-नारियल की चटनी, दही आदि व्यंजन तैयार थे।

बड़े बाबू प्रसन्न थे। बच्चे मुट्ठियां भर-भरकर सिके दाने मुंह में ठूंस रहे थे। इजारदार बड़े अदब से बड़े बाबू से बोले, "क्या है कि साहब, जवार की खास जाति है। आम दाने से एकदम अलग। इसे 'मलाईदाना' कहते हैं। मुंह में डालते ही घुल जाती है। अजी, उस ठंडे दाने को रहने दीजिए, आप तो गरमागरम हुरड़ा लीजिए। अरे, ज़रा गरमागरम लाना रे !"

बड़े बाबू ने भुट्टे के कुछ दाने मुंह में डालते हुए कहा, "अजी, जवार की तासीर ठंडी होती है, हजम नहीं हो पाती। धर्म का साधन शरीर है। उसे ठीक रखना ही पड़ेगा। यदि स्वास्थ्य बिगड़ गया तो धर्म का आचरण कैसे संभव होगा ! अपना तो ऐसा है..."

एक ओर ज्ञान का यह बखान चल रहा था, दूसरी ओर भुट्टों का

स्वाद भी लिया जा रहा था। खाने में कहीं कोई संकोच नहीं था।

अवसर देखकर एक नौकर को तात्याजी को बुलवाने भेजकर इजारदार बोले, "अपने यहां पाठशाला भी है। सातवीं तक कक्षाएं हैं। शुरू में प्राइवेट..."

"सरकार से मान्यता मिली या नहीं? कहें तो वह काम भी..."

"जी नहीं। आप क्यों कष्ट करेंगे! वह काम तो मैंने स्वयं करवा लिया है। ठेठ कोंकण से मास्टर बुलवाया है। स्कॉलर! सोचा, चाहे जितना खर्चा हो जाय, बच्चों की शिक्षा से महत्वपूर्ण और क्या है? शिक्षा याने ज्ञानदीप। कहते हैं न...।"

इतने में दूर से आते तात्याजी दिखाई दिए। मां सरस्वती मानो इजारदारों से मुक्ति पा गई। तात्याजी के पहुंचते ही इजारदार ने उनका परिचय कराते हुए कहा, "आप हैं गणपति भिकोबा खरे। उत्तम कवि हैं। हमारी बहन 'गोदी' के विवाह में गाए मंगलाष्टकों के रचयिता ये ही हैं।"

दांतों में फंसे भुट्टे के तृण को निकालने का प्रयास करते बड़े बाबू बोले, "बहुत खूब! गुणीजनों को आश्रय देना आप जैसों का मानो धर्म है।"

"देता हूं। आश्रय ही देता हूं। हां, इन्होंने खास आपके लिए एक गीत तैयार किया है।"

"हमारे लिए? क्या हम इस योग्य हैं?"

"क्या कह रहे हैं आप? इन्होंने स्वयं गीत लिखा है। मुझसे पूछ रहे थे कि क्या प्रस्तुत करने का अवसर मिलेगा? मैंने कहा, 'साहब जब हुरड़े का आनन्द ले रहे होंगे तब आ जाना' छलक पड़ती उत्सुकता को मन-ही-मन दबाकर चेहरे पर उदासीनता का भाव लाने का प्रयत्न करते बड़े बाबू बोले, "अजी, कई लोग हमारी तारीफ में बहुत-कुछ लिख जाते हैं। वास्तव में हम ठहरे सरकारी नौकर। वेतन पाने वाले। नौकरी सरकार की करते हैं, और जितना बन पड़े, जनता की सेवा करने का प्रयास करते हैं। 'बांबूर्जी' के पटेल ने तो एक मानपत्र भी भेंट किया था। हार पहनाकर स्वागत भी किया। ईश्वर से यही प्रार्थना करता रहता हूं

कि उजला माथा लिये इस भवसागर को पार..." बात वहीं छोड़ते हुए तात्याजी से कहा, "अच्छा, अब आप सुनाइए..."

तात्याजी उठ खड़े हुए। माथे पर पड़े बल तथा क्रोध को यत्न से दबाया। कुर्ते का एक बटन टूट गया था सो मुट्ठी में कुर्ते की बांह दबाकर कागज पकड़ा। तात्याजी की हवा में उड़ती चोटी को देख बच्चे खिलखिला पड़े। बड़े बाबू ने बच्चों को डपटा और तात्याजी से बोले, "बच्चों की ओर ध्यान मत दीजिए। आप पढ़िए।"

तात्याजी ने बड़े बाबू के बारे में पहले से ही पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी, सो उनके बारे में बहुत-कुछ लिख गए। उन्हें दरिद्र पंक में खिला कमल बताया। और भी बहुत-सी उपमाएं दीं। बड़े बाबू झूमते हुए काव्य का आनन्द ले रहे थे।

अचानक उनके चेहरे का रंग बदलने लगा। ध्यान से कविता सुनने लगे। अब माथे पर रेखाएं उभरने लगीं। हाथ उठाकर तात्याजी को रोक दिया।

"यह अंतिम चरण फिर से सुनाइए ज़रा।"

तात्याजी ने साफ-साफ कहा, "जैसे मकर निगलें रत्नों को, आप निगलें आर्त दीनों को।"

यह सुनते ही बड़े बाबू की आवाज में ढेर-सी कड़वाहट भर गई। बोले, "यानी मकर उपमान..."

"जी हां, उसका उपमेय..."

"मैं सब समझ गया! वृजदर्पण, अलंकार हमने भी पढ़े हैं स्कूल में। किसकी रचना है यह?"

शान से छाती फुलाते तात्याजी बोले, "जी, मेरी। मैं स्वयं इसका रचनाकार हूं। लेकिन आप और कुछ न समझिए, मेरी मति अल्प है।"

"बड़े ढीठ हैं आप! भविष्य में ऐसा दुस्साहस न करें। बैठ जाइए।"

मास्टरजी की रचना इजादार के पल्ले तो नहीं पड़ी, परन्तु कुछ बिगाड़ गई है यह रचना, इतना वे अवश्य समझ गए। घबराकर बोले, "क्या हुआ साहब? क्या कुछ गड़बड़ हो गया?"

"होना क्या था ? कुछ नहीं हुआ।" बड़े बाबू ने त्योरियां चढ़ाकर कहा, "आप अपने इन महाकवि महाशय को एक कुर्ता इनाम में दे दीजिए, जिसके सारे बटन सलामत हों।"

बड़े बाबू का मन उचट गया। फिर कुछ खाया-पिया नहीं गया। सारा मजा किरकिरा हो गया। तात्याजी द्वारा सुनाया गया काव्य सीधा न था, यह इजारदार समझ चुके थे। लौटते समय तात्याजी को अलग ले जाकर बोले, "रात को बंगले पर आना।"

हर रात की तरह पत्नी, मिसरी मिला दूध ले आई। इजारदार गुस्से में थे, बोले, "फेंक दो इसे नाली में।"

"क्या हुआ ? इतना अच्छा दूध..."

"क्या ही नगीना ढूंढ़ भेजा है आपके पिता ने !"

"वे, खरे मास्टर ?"

"तो और कौन ? दीखने में गऊ, पर वास्तव में..."

"ये क्या कह रहे हैं आप ? पति-पत्नी दोनों अपनी मर्यादा में रहते हैं। बच्ची रोने वाली है, इसलिए उसे यहां कभी लाते तक नहीं। और गोदी के विवाह पर रचे मंगलाष्टक तो..."

"वही तो मैं भी कहूं। उनका महाकाव्य..."

"और महालक्ष्मी का मुखौटा ? औरतें कहती थीं—"

"क्या ?"

"मास्टरजी कितना अच्छा मुखौटा बना लेते हैं।"

इजारदार का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था।

"सिल-बट्टा बनाने वाले तक को यदि दो पैसे दोगी तो वह इससे भी अच्छा मुखौटा बना देगा। परन्तु यह मूर्ख..."

"उन्हें मूर्ख क्यों कहते हो ?"

"महा मूर्ख नहीं कहा, यही क्या कम है ?"

रात में तात्या बंगले पर गए। मन में थोड़ा-बहुत डर भी था। अपने आपको समझा रहे थे।

अव्वल तो इजारदार ने उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। कागज-पत्र देखते रहे।

अंत में तात्याजी ही बोले, "चलता हूं।"

"कहां ? मसान में ? क्या पढ़ सुनाया बाबू को ?" दांत पीसते हुए इजारदार ने कहा।

"वस्तुस्थिति..."

"तुम्हारा सिर ! उन्होंने पैसा खाया तो तुम्हारा क्या बिगड़ गया ? छोटे मुंह बड़ी बात ! उनका हृदय विशाल है। तुम्हारे खिलाफ कोई कार्यवाई न करें, ऐसा बार-बार समझा गए हैं, वरना धक्के मार तुम्हें निकाल बाहर करता। आज से तुम्हारा कविता, काव्य, सब बंद। अब जा सकते हो।"

१३/

तात्याजी उदास मन से कुर्सी पर बैठे थे। किसी काम में जी नहीं लग रहा था। बच्चे शोर मचा रहे थे। पास वाली कक्षा के मास्टरजी कम उम्र के थे। विषुवतवृत्त-कर्कवृत्त का भेद समझाने का प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु विद्यार्थियों का ध्यान कहीं और ही था। दूसरी कक्षा में गिनती तथा पहाड़ा चल रहा था। इक्कीस का पहाड़ा सुनाई दे रहा था। मास्टरजी बोल रहे थे, बच्चे लिख रहे थे—'इक्कीस तिया तिरेसठ'। इसके आगे शायद स्वयं मास्टरजी को याद नहीं आ रहा था, सो बच्चों को डपट रहे थे।

तात्याजी की मेज पर किताबें पड़ी हुई थीं। बच्चे चुपचाप अपनी स्लेटों पर कुछ लिख रहे थे। उनका ध्यान इस ओर लगा था कि मास्टरजी कौन-से विषय की पुस्तक हाथ में ले कर पढ़ाना शुरू करेंगे। तात्याजी सोच रहे थे, इस शिक्षा-प्रणाली का क्या उपयोग ? ये गिनती, अद्धा, सवाई, डयौढ़ी ! ये अक्षांश-देशांश रेखाएं। कुत्ते की एक छलांग खरगोश की डेढ़ छलांग के बराबर वाले सवाल, हौज का भरना, खाली होना ! यह शिक्षा व्यर्थ है, एकदम व्यर्थ। जिसने यह विश्व बनाया, धरती-आकाश का

सृजन किया, जिसकी आज्ञा मानकर चन्द्र-सूर्य भ्रमण करते हैं, उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर सकें, ऐसा इस प्रणाली में कुछ भी नहीं । बाईस तिया कितने ? कितनों के जीवन में होता होगा इसका उपयोग ? सिर्फ कागजी ज्ञान प्राप्त करने से जीवन सार्थक होता है कभी ?

इस धरती का परिमाण, घेरा, व्यास, इत्यादि भर जान लेने से कहीं कोई इसकी महत्ता समझ पाया है ? इस धरती के प्रति स्नेह उत्पन्न हुआ ? इस मां के प्रति सद्‌भाव जागृत हुआ ? इस मां ने जो अन्याय, अत्याचार सहे, उससे पीड़ित हो दो आंसू बहा सकें, ऐसी करुणा उपज सकी ? यदि इसमें से कुछ भी साधा न गया तो यह प्रणाली सर्वथा व्यर्थ है ।

बच्चे कविता याद कर रहे थे । दिशाहीन परिश्रम को देख वे खिन्न हो गए । सामने पड़ी किताबों में से एक उठाई । पन्ने पलटते-पलटते एक कविता पर दृष्टि अटक गई, जिसका भाव था :

"अपनी आजीविका चलाने, पेट भरने,
कोई दूर देश आया है ।
उसे आना पड़ा है । उसके जड़ शरीर को, भाग्य,
बलपूर्वक दूर देश भले ही खींच लाया हो,
पर हृदय में जन्मभूमि का स्थान सुरक्षित है ।
जन्मभूमि के दर्शनों की एकमात्र अभिलाषा,
उसके मन में है ।"

कविता की इन पंक्तियों को तात्याजी ने दो बार पढ़ा । कविता का मर्म हृदय में उतरता चला गया । शब्दों के अर्थ सुस्पष्ट हो सामने आए । शब्द सजीव हो गए । यह तो किसी चिर-विरही आर्त जीव का उत्पीड़न है । 'बिरहा' है । अंतर्मन में बसा दुःख, शब्दों की धारा बन बह निकला है । तात्याजी की आंखों के सामने ज्ञानेश्वर महाराज की अमृतमय बिरही रचना उभर आई, जिसका भाव था :

"चन्दन का लेपन भी मुझे ऊष्ण प्रतीत होता है ।
मेरा कन्हैया, कान्हा, मेरा प्रिय, ही मेरा मन
शांत कर सकेगा, और कोई उपचार,

लेप मुझसे सहा नहीं जाता ।" 'उस' से मिलवाओ ।
...क्या वह आया नहीं ?"

ज्ञानेश्वर द्वारा व्यक्त किया गया यह चंदन—सिक्त दुःख, यह परमवेदना परमात्मा, परमपिता के लिए है, तो इस कवि का दुःख जन्मभूमि के लिए है, दोनों के दुःख की, वेदना की तीव्रता भिन्न भले ही हो सकती है, पर जाति एक ही है । 'बिरहा' ! विरह !

तात्याजी आगे पढ़ने लगे :

"इच्छा तो है कि बार-बार तुम्हें देखूं,
समय-समय पर देखूं तो आंखें सन्तुष्ट होंगी,
पर यह दूरी इतनी है कि यहां से
तुम्हारे दर्शन के लिए निकलना भी
कितना कठिन और दुर्निवार है ।"

आंखों में छलक आए आंसुओं को छिपाने के लिए उन्होंने गर्दन झुका ली । लेकिन आंसू रुक न सके । कविता के अगले चरण का भाव सामने उभर आया :

"जो मेरे पूर्वजों का देश है,
मेरा जन्म स्थान,
जहां मैंने अपना बचपन आनंदपूर्वक बिताया,
उस जन्मभूमि का स्मरण बड़े आदर से
क्यों न करूं ?"

उन्हें याद आए वे सभी स्थान, जहां उनका बचपन गुजरा था । दोपहर में सताने वाली भीषण गर्मी । हवा भी स्तब्ध । सारा निसर्ग मानो धूप में जलते पाषाण शिल्प-सा ! ऐसी गर्मी में दोपहर में घर के पिछवाड़े अथवा कोकम या समीप के आम्रवृक्ष की छाया में किसी शिला पर लेट जाना । दोपहर ढलते-ढलते वृक्ष डोलने लगते । सागर किनारे से आती हवा सभी स्तब्ध पेड़ों को जगा जाती । सुपारी के ऊँचे शिखरों से आम्रवृक्ष की ओर झांकती । उस लहर का सुखद स्पर्श शरीर को रोमांचित, आनन्दित कर जाता । फिर लेटे-लेटे ही सृष्टि का निरीक्षण होता ।

प्राकृतिक सौंदर्य का विशाल दृश्य । कहीं दूर दीखती खाड़ी । खाड़ी

के किनारे-किनारे दौड़ती नजर सागर तक पहुंच जाती । सागर का आकार एक घेले जैसा दिखाई देता । असीम जलराशि और लहरों की गर्जना । वहीं खाड़ी में एक दीपस्तंभ । जहाज अपना सफर, दीपस्तंभ के उस तरफ, जरा दूर से, किनारों की उथली चट्टानों से बचते, तय करते थे। समुद्री तूफान उठने पर जब चारों ओर धुंधलका छा जाता तो वह दीपस्तंभ जहाजों के लिए जीवन का आधारस्तंभ बन जाता । इस दीपस्तंभ को लेकर अनेक अविश्वसनीय कहानियां सुनने में आतीं ।

कहते हैं, जब तूफान में दिशा-बोध असंभव हो जाता, तो दीपस्तंभ की बत्ती अपने स्थान से उठ, जहाज के आगे पानी में तैरते हुए, नाविकों का मार्गदर्शन करती है । जिस जहाज के आगे वह तैरती दिखाई दे वह कभी डूब नहीं सकता । नाविकों के लिए वह बत्ती भगवान का रूप थी । दीपस्तंभ को सिंदूर और कितने ही नारियल का भोग चढ़ता है । बचपन में तात्याजी की अनेक इच्छाएं थीं । दीप की प्रशंसा सुन उनका मन दीप बन तूफान में अटके जहाजों को किनारे लाकर छोड़ने को होता । मार्गदर्शक का काम पूरा होते ही गायब हो जाने की इच्छा मन में थी, ताकि जब कोई मनौती नारियल स्तंभ पर चढ़ाए, वे वहां न हों ।

भेस बदलकर क्या-क्या होने को मन करता । वृद्ध मंगलू के रहट का बैल बन उसके बगीचे को सींचने का मन होता । घानी टूटने के कारण तेली गांव छोड़कर जा रहा था, सो उसकी घानी बनने का मन होता । पूजाघर में रखा शंख दवाई बनाने के लिए काम में लाने से आधे से ज्यादा घिस गया था, सो शंख बनने का जी होता । कहीं जल बन बंधियों में बरसने की इच्छा तो कहीं हवा का झोंका बन बच्चे लटकते नारियल फलों को चूसते की इच्छा । अनाज, पापड़, बड़ियां आदि जब आंगन में सूखने के लिए पड़ते तब चिलचिलाती धूप बनने की इच्छा । मनौती मांग-मांगकर थकी-हारी पारो भाभी के लिए मंदिर में भगवान बन, उनकी मनोकामना पूर्ण होने का आशीर्वाद देने की इच्छा । न जाने और भी बहुत कुछ...

उन दिनों कितने ही संकल्प होते थे। बचपन की वे सनक भरी इच्छाएं ! उस क्षण तो समस्त इच्छाएं, संकल्प सत्य प्रतीत होते थे। जिस आंगन में बैठ संकल्प किए, भाई-बहनों की अवहेलना सही; आज

उसका तीव्र स्मरण हो आया । इस रूखे, सपाट मैदान में बैठ जन्मभूमि की भीगी यादों से मन भीग उठा । मन-प्रांगण में कविता के अगले चरण का भाव आया :

"उन पर्वतों की शोभा ही न्यारी है,
जिन पर बसे हैं प्राचीन दुर्ग !
सनसनाती हवा की गूंज से भरी गुफाएं,
वहीं से कूदता प्रपात का जल,
नीचे बने बगीचों को सींचकर उन्हें हरा-भरा रखता है ।"
वे दुर्ग, किले के टूटे बुर्ज,
शीतल सुन्दर गुफाएं और वे झरने...

कविता से उठकर अगला चरण याद आते ही जन्मभूमि से दूर होने का आवेग चरम पर पहुंच गया । धोती का छोर मुंह में रख वे दरवाजे पर आ खड़े हुए । वहां किसी को न पाकर आंसुओं को मुक्त रूप से बहने दिया ।

"तात्या, आप लो लहे हैं ?"

तात्या की भाव-समाधि झटके से टूट गई । सामने सदा रोने वाली उनकी मनु, चन्द्रा की गोद में थी और विस्फारित नेत्रों से उन्हें देख रहीं थी ।

वे आगे बढ़े । बच्ची को गोद में लेकर विह्वल होकर, छाती से चिपटा लिया ।

१४/

मनु को गोद में उठाए तात्या आंगन में टहल रहे थे। नीम तले शुभ्र चांदनी फैली थी, टहनियों से छन-छनकर झरती हुई । गीता के तीसरे अध्याय का पठन चल रहा था ।

आज मन कुछ अस्वस्थ-सा था । कल ही सरस्वती कह रही थी :

"मैं चाहती हूं, एक बार बच्ची को अपने कुलदेवता के दर्शन करा लाते।" आर्थिक दृष्टि से यह कार्य सरल नहीं है, इसका सरस्वती को पूरा ध्यान था, फिर भी मनु के कमजोर स्वास्थ्य को देख, चिन्तित हो, यह इच्छा उसके मन में पनपी थी।

"दोनों जगह जाना पड़ेगा। आसूद और गुहागर।" तात्या की आवाज में उत्साह था।

"तो चले चलेंगे।"

"तुमने देखा है 'केशवराज' ?"

"मैं कब देखती ?"

"छोटा था, तब गया था आसूद। पर लगता है, मानो हाल में वहां से लौटा हूं। केशवराज से उतर नाले के उस पार—बल्लियों से बनी पुलिया लांघकर हरी-भरी वसुंधरा के रूप का आनन्द लेते हुए आगे बढ़ा हूं। फूलों की सुगंध ऐसी मदमाती थी, जो वर्णन से परे है। ज्ञानेश्वर ने कहा है, "सर्वेन्द्रिया फुटती जिभा"—शरीर के अंग-प्रत्यंग से जैसे उस अलौकिक सुगंध का आनन्द ले सके, मानो हर इंद्रिय-जिह्वा हो, रसपान का आनन्द ले सके। और केशवराज ! ऐसी इच्छा होती है कि उसके चरणों में स्वयं को समर्पित कर दें।"

तात्या उस अद्भुत अनुभव की स्मृतियों में खो गए।

"फिर तो आपने गुहागर में मां दुर्गा के भी दर्शन किए होंगे ?" सरस्वती ने पूछा।

"नहीं ! पिताजी वहां कभी ले ही नहीं गए।"

हाथ में कौर पकड़े सोचते रहे। थोड़ी देर बाद भारी मन से बोले, "पैसे की व्यवस्था कैसे होगी ? कम-से-कम तीन सौ रुपए लगेंगे। किराया, कुली, खाना-पीना ! फिर कुलदेवता के दर्शन करने जाएंगे तो क्या मंदिर में पांच रुपए भी न चढ़ाएंगे ?"

"हां, इतना खर्चा तो होगा ही। दस-बीस अधिक ही समझो।"

"वही तो सोच रहा हूं। वेतन मेरा कितना है, यह तो तुम जानती ही हो। दाल-रोटी ही जैसे-तैसे जुट पाती है। बच्ची के लिए अच्छे चावल जुटाना भी मुश्किल होता है।"

"सुनो !"

"हां, कहो !"

"आपने मेरे नाम डाकखाने में कुछ जमा किया है। फिर आपने जो पुस्तकें मंगवाने की सोची है, वे बाद में मंगवालें तो..."

तात्याजी ने सरस्वती की ओर देखा। उसने पलकें झुका लीं।

"पुस्तकों के अलावा मुझे और शौक नहीं है। न तो मैं चाय पीता हूं, न पान-सुपारी खाता हूं। जहांतक बन सके, मैं दूसरों की पुस्तकों में से लिख-उतार लिया करता हूं। उपनिषद् के ये दसों भाग सस्ते मिल रहे थे, सो मंगवाने की सोची। मेरी इस भूख का दमन मत करो। इस पर भी यदि तुम्हारी इच्छा हो तो..." तात्याजी के स्वर में बड़ी व्यथा उमड़ आई थी।

सरस्वती की आंखें छलछला आईं।

"आप पुस्तकें मंगवा लें। उन दस-बीस रुपयों से क्या अंतर पड़ने वाला है !"

बत्ती की रोशनी कम कर, पुस्तक में निशानी रख, तात्याजी सो गए। पास में मनु को सुलाकर एक कथरी पर सरस्वती भी लेट गई। देर रात तक उसे नींद नहीं आई। तात्याजी भी बार-बार करवटें बदलते रहे, शायद उन्हें भी ठीक से नींद नहीं आ रही थी। सरस्वती ने मनु को चादर ओढ़ाई, फिर तात्याजी के पास आ बैठी। वे जाग गए। वह स्नेह से बोली, "आप आराम से सो जाइए।"

वे उसकी गोद में सिर रखकर सो गए। कुछ देर बाद उन्हें लगा कि सरस्वती रो रही है।

झट उठ बैठे।

"सरस्वती !"

यत्नपूर्वक वह आंसू पी गई। तात्याजी उसे थपकियां देते बहुत देर तक बैठे सोचते रहे।

दूसरे दिन कुछ अनिच्छा से इजारदार के पास गए। इजारदार का क्रोध अभी तिल-मात्र भी कम नहीं हुआ था। उन्होंने आज भी हमेशा

की तरह तात्याजी की ओर ध्यान नहीं दिया। कुछ देर बाद तात्याजी ने ही पहल की।

"थोड़ा काम था..."

इजारदार ने अपनी पीली, कंजी आंखों से उन्हें घूरा।

"कुलदेवता के दर्शन करने कोंकण जाने की इच्छा है।"

"यदि छुट्टी मिल रही हो तो जाइए, हमारी सम्मति की क्या आवश्यकता है!"

"जी, तीन एक सौ रुपए की जरूरत है।"

थोड़ा रुककर तात्याजी बोले, "मैं प्रामिसरी नोट लिख देता हूं।"

"यदि रुपए लेकर आप भाग गए, तो वह कागज लेकर मैं आपके दरिद्र कोंकण में आपको कहां ढूंढ़ता फिरूंगा ?"

"मेरे ग्रंथ हैं।"

"कोई कानी कौड़ी भी नहीं देगा उनके बदले। और...?"

"अब और कुछ नहीं!"

"तो फिर आप जा सकते हैं।"

इस गहरे अपमान से तात्याजी का हृदय बिंध गया। शाम तक टीस ज़रा भी कम न हुई। वाणी से गीता के तीसरे अध्याय का पाठ तो चल रहा था, किन्तु मन विषाद से भरा था। बार-बार एक ही पंक्ति दुहरा रहे थे :

"असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः"

आगे क्या है ? कुछ भी याद नहीं।

"...परमाप्नोति पुरुषः...परमाप्नोति पुरुषः...! ...पुरुषः..."

"आगे पलिये न तात्या!"

"हां, कहां पहुंचे थे हम ? परमाप्नोति पुरुषः...आगे..."

"कल्मनैव ही शंशिद्दीः"...मनु ने तुतलाते हुए याद दिलाया।

"बिल्कुल ठीक! याद ही नहीं आ रहा था!" परन्तु तात्याजी चौंक पड़े। मनु को यह याद कैसे रहा ? वह पाठ सुनती अवश्य है, परन्तु क्या उतने से ही उसे याद हो गया ?

इतने में आडकूजी को आंगन में आता देख तात्याजी बोले :

"सुना आडकूजी, बिटिया को गीता याद हो गई है! बिना पढ़ाए-लिखाए।"

"आखिर बेटी किसकी है ?"

बच्ची की एकाग्रता, स्मरण-शक्ति और बुद्धिमत्ता देख वे चकित थे। सोचने लगे, 'इस बच्ची को मैंने क्या दिया ? कुछ भी नहीं। दरिद्रता, असुविधाएं और रोगी काया। इसके सिवा क्या दे पाया हूं मैं इसे ? इस जनम में इसे आर्थिक संपन्नता तो मैं देने से रहा, परन्तु मेरा अपना निजी तथा अर्जित जो कुछ भी है, उसे इसको अवश्य दूंगा। मैं इसे वह भण्डार दूंगा, जिससे मन की समृद्धि तथा बुद्धि की संपन्नता में निरन्तर वृद्धि। जो बीज छुपा है, उसे अंकुरित करना ही होगा। वह सब, जिससे मेरे चित्त को थोड़ी-बहुत स्थिरता प्राप्त हुई, इसकी धरोहर होगी। इसे सन्त तुकाराम तथा ज्ञानेश्वर के हाथों सौंप दूंगा। इसे मीरा की गोद में बिठा दूंगा। जिस जन्मभूमि के प्रति मेरा अपार स्नेह है, उसकी एकांत भक्ति ही इसकी जीवन-धारा होगी।

'आज तक मैं कभी इसे बंगले पर नहीं ले गया। वहां भी कई बच्चे हैं, उनसे मिलने-जुलने नहीं दिया। यह दीन, अभावों में पली, शरीर से अस्वस्थ बच्ची वहां अवहेलना का केन्द्र बन जाती, जो मुझे स्वीकार्य नहीं। उस वातावरण में यह कोमल फूल कुम्हला जायगा।'

'नहीं, इसकी सहेलियां होंगी मुक्ताबाई, जनाबाई और मीरा। जिसे इनकी मित्रता का वरदान मिल जाए, उसे फिर दूसरे मित्रों की आवश्यकता नहीं रह जाती।'

हर सुबह नित्यकर्म से निबटकर तात्याजी मनु को लेकर बैठ जाते। उसे उत्तम संस्कार देने का कठिन कार्य उन्होंने आरम्भ कर दिया। सर्वप्रथम 'शिवमहिम्न' पढ़ाना शुरू किया। एक-एक चरण स्पष्ट स्वरों में धीमी लय से उसे सुनाते। फिर वही चरण दो या तीन बार दोहराते। जब मनु उसे भली-भांति समझ जाती तो उसे अपने साथ पढ़वाते। उसे फिर कई बार दोहरवाते। कभी-कभी तो लगातार बीस-पच्चीस बार

पाठ हो जाता। मनु सब कंठस्थ करती जाती। स्मरण-शक्ति तीव्र होने के कारण उसने पूरा खंड बहुत जल्दी याद हो गया।

जब कभी वह थक जाती तो, तात्याजी रुक जाते। कभी-कभी उससे होड़ लगाकर स्वयं हारकर उसका उत्साह दूना कर देते। वह प्रसन्न मन से दुबारा पढ़ने लगती। तात्याजी के पास ज्ञानेश्वरी के कुछ चुने श्लोकों का संकलन था। देखते-ही-देखते मनु ने उसे कंठस्थ कर लिया। दोनों मिलकर उसका पठन किया करते। बीच में तात्याजी स्वयं जान-बूझकर गलती करते। किसकी बात सही है, इसे लेकर दोनों में रोचक वाद-विवाद होता। तात्याजी कहते, "लाओ किताब ! मैं ठीक कह रहा हूं।"

मनु दौड़कर जाती, स्टूल पर चढ़कर पुस्तक निकालती। चरण ढूंढ़ती तो पाती, उसका कहना सही है। तुरन्त कहती, "यहां देखिए तात्याजी, क्या लिखा है ?"

मनु पुस्तक खोल उनकी आंखों के सामने रख देती। वे आश्चर्य से कहते,

"अरे, यह तो जादू ही हो गया। अभी तक तो जो मैं बोल रहा था, वही ठीक हुआ करता था।"

"जी नहीं, आप हमें बना रहे हैं।" मनु के इस कथन पर तात्याजी कहते, "अच्छा बाबा, हमसे गलती हुई। तुम्हारी बात सही है। अच्छा !"

मनु की बुद्धि बहुत तेज थी। नित्य पठन का नियम था। तात्याजी के साथ वह स्कूल भी जाने लगी थी। स्कूल का पाठ उसे वहीं याद हो जाता था। घर में पढ़ने की आवश्यकता ही न पड़ती। उसकी कोई सहेली नहीं थी। पठन, अभ्यास और स्मरण यही उसका सबकुछ था। वही सहेली, वही मित्र। उस पर तात्याजी का साथ। गीतों, पदों, छन्दों, कुण्डलियों, दोहों आदि को लेकर अंत्याक्षरी खेली जाती। तात्याजी उसके लिए सरल अभंग, छंद ढूंढ़कर मोतियों से अक्षर में लिख देते। कभी वे पूछते :

"अच्छा बेटी, बताओ, तुम्हें सबसे अधिक प्रिय क्या है ? मोरोपंत की आर्या या तुकाराम के अभंग ?"

मनु पलभर में जवाब देती, "अभंग।"

"हमें तो आर्याएं, अभंगों से अधिक प्रिय हैं।" तात्याजी कहते।

"लेकिन, आर्या से तो अभंग अधिक सरल हैं, तात्याजी।"

"और ज्ञानेश्वरी कैसी है ?'

"ज्ञानेश्वरी ? भाषा कठिन है, पर एक बार पढ़ना शुरू कर दिया तो ऐसा लगता है मानो..."

"क्या लगता है भला ?"

"जाइए, हम नहीं बताते, आप हंसेंगे।"

"नहीं हंसेंगे, भई।"

"पक्का !"

"एकदम पक्का।"

"ऐसा लगता है मानो मुंह में मिसरी घुलती जा रही हो।..."

मनु का उत्तर सुन तात्या उसे सीने से लगा लेते और विभोर होकर उसका माथा चूम लेते।

१५/

पूस में मनु का नवां जन्मदिन पड़ता था। आडकूजी ने सुना तो पूछा :

"तिथि कौन पड़ती है ?"

"पूनम।"

"कैसी बात है, देखो। उसी दिन तो रिनमोचन की जात्रा है।"

"ऋणमोचन ?"

"बाप्पा ! आपको पता नई क्या। उस दिन तो पूर्ना मां के तीर पर बड़ा मेला लगता है।"

तात्या और मनु स्कूल से लौटे थे। मनु कपड़े बदलकर, हाथ-मुंह धोकर बैठक में तात्याजी के समीप आ बैठी। तात्याजी बोले, "गाडगेबाबा के बारे में सुना तो बहुत है, परन्तु अभी तक दर्शन नहीं हुए।"

"फिर चलिए न, साधुबाबा। यहां से दस कोस है रिनमोचन। एक दिन पहले ही बैलगाड़ी से चल पड़ेंगे।"

"मालिक की बैलगाड़ी? नहीं बाबा, नहीं।"

"उनकी बैलगाड़ी क्यों? हम तो अपनी गाड़ी से जाएंगे!"

तात्याजी ने पंचाग निकालकर देखा तो 'पूनम' इतवार को पड़ती थी।

"फिर ठीक है। शनिवार की शाम यहां से चलेंगे। आप तीनों, लक्ष्मी, हमारा बाबू और मैं।"

आडकूजी उत्साहित था।

"सोमवार को छुट्टी लेनी पड़ेगी।" तात्याजी ने कहा, "ले लूंगा।"

शनिवार की रात गाड़ी में ही बीत गई। पूस की ठंड, मनु मां की गोद में सिर रखकर लेटी थी। पर नींद नहीं आ रही थी। उसके मन में रह-रहकर आता कि जिस महात्मा के दर्शनों के लिए हम जा रहे हैं, वे कैसे होंगे? वे हमसे बात भी करेंगे या नहीं? तात्याजी और आडकूजी रात-भर गाडगेबाबा के बारे में बातचीत करते रहे। मनु सब सुन रही थी। गाडगेबाबा विरक्त हैं। वे किसी एक के यहां रोज भोजन नहीं करते। किसी जगह दो दिन से अधिक ठहरते नहीं। किसी के घर सोते नहीं। स्वयं भीख मांगकर अपंगों को भोजन कराते हैं, सदावर्त चलाते हैं। और भी बहुत कुछ!

बड़े सवेरे जब आकाश में उजियारा छाने लगा, मनु उठ बैठी। तात्याजी ने लाड़ से पूछा,

"नींद पूरी हो गई बिटिया?"

"जी हां।"

"ठीक से ओढ़कर बैठना, नहीं तो सर्दी लग जाएगी।"

"तात्याजी 'भूपाली'* गाइए न?"

"भूपाली गाऊं? किसकी रचना सुनोगी?"

"तुकोबा की।"

---

*भूपाली, प्रातःकाल गाए जाने वाले भजन।

"अच्छा, गाता हूं।"

'ऋणमोचन' अभी दो कोस दूर था। उस ओर जाने वाली कई बैलगाड़ियां रास्ते में मिल गईं। उनके गाड़ीवान जब बैलों को आरी चुभाते, पूंछें मरोड़ते तो बेचारे बैल मार के भय से तेज भागने लगते। दौड़ की यह होड़ तात्याजी न देख सके। आडकूजी से बोले:

"बैलों को अपनी गति से चलने दो, आडकूजी, आरी मत लगाओ।"

"नई, साधूबाबा, आप गाइए।"

तात्याजी ने पहले भजन गाया। फिर पंचपदी और भूपाली गाना शुरू किया। भोर होने को थी। उनकी आवाज में बहुत मिठास तो न थी, पर थी एक आर्तता, जो सुनने वाले के मन को एकाग्र कर देती। भक्तिरस करुणामय हो वह पड़ता। तुकोबा की रचना, भोर की शांत बेला और एकाग्रता से सुन रही मनु। तात्याजी ने जो गाया, उसका भाव था:

"आप तो सर्वज्ञाता हैं, मैं अपनी कहानी क्या कहूं? जैसे रखेंगे वैसे ही रहूंगा, आपके चरणों में। मन अपंग हो गया है, कोई उपाय नहीं सूझता। आपके चरणों में पड़ा हूं।"

मनु तात्याजी के पास बैठी शांत चित से सुन रही थी। उसने अपनी नन्हीं हथेली उनकी हथेली पर रख दी। उसको ममता से सहलाते तात्याजी गाने लगे।

गीत का मर्म, तात्याजी का आर्त, भक्तिभाव में डूबा स्वर और शांत बेला, समा बंध गया। मनु की बड़ी-बड़ी आंखें झरने लगीं। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो कोई अंतर्मन में दबी वेदना को साकार कर रहा हो और उस वेदना के समीप रहना उसके भाग्य में लिखा हो। वह टकटकी लगाकर उस वेदना की तरफ देखती रही। गाड़ी गंतव्य की ओर बढ़ती चली जा रही थी।

ऋणमोचन आया। आडकूजी ने एक वृक्ष के नीचे बैलगाड़ी खड़ी कर दी। सैकड़ों बैलगाड़ियां आई थीं। मेले का स्वरूप विशाल था। कुछ लोग स्नान के लिए जा रहे थे, कुछ लौट रहे थे। सर्दी के कारण कुछेक आग सेक रहे थे। चारों ओर कोलाहल-ही-कोलाहल। दुकानों पर ग्राहकों का उल्लास देखते ही बनता था। कोई खरीद रहा था तो कोई बेच रहा

था। कहीं कोई खो जाता, फिर मिल जाता। सब एक ही उद्देश्य से आए थे। मेला! तात्याजी बोले, "अब क्या करना है, आडकूजी ?"

"आप जैसा कहें।"

"ऐसा करते हैं, पहले स्नान करके भगवान के दर्शन करेंगे। कुछ खरीदना तो नहीं है ?"

"थोड़े चिरौंजी दाने खरीदने हैं, परसाद के लिए।"

"बाबा कहां होंगे ?"

"ढूंढ़ना पड़ेगा।"

"लेकिन पहले स्नान, दर्शन, आदि से निवृत्त हो लें, फिर उन्हें ढूंढेंगे।"

"हां, जी।"

मेला बहुत बड़ा था। गाडगेबाबा को खोजना आसान न था। दूर कहीं एक खेत में उनका डेरा था। मंडप तोरण-बंदनवार से सजा था। मैदान के बीचोंबीच एक ऊंची बल्ली पर गैस बत्तियां टंगी थीं। शायद रात में होने वाले कीर्तन के लिए यह सब व्यवस्था थी। बाबा के युवा शिष्य अपने-अपने कार्यों में व्यस्त थे। उनमें से किसी को भी पता न था कि बाबा कहां हैं। परन्तु उन्होंने इतना अवश्य बताया कि बाबा रात में यहीं इसी मंडप में पधारेंगे और कीर्तन करेंगे।

मनु ने तात्याजी से पूछा:

"हम लोग मंडप में बैठें ?"

"क्यों, बेटी ?"

"वहां कोई अभंग गा रहा है।"

"फिर तो जरूर बैठेंगे।"

कीर्तन शुरू होने में अभी घंटे-डेढ़ घंटे का समय था।

धीरे-धीरे पूरा मंडप भर गया। लोगों की भीड़ बढ़ती चली गई।

कुछ देर बाद बाबा के शिष्य मृदंग, वीणा ले आए। उनके पीछे भजन गाने वाले शिष्य भी आ पहुंचे। एक ने वीणा के तार सुर में लगाए। दूसरे ने मृदंग के सुरों को ठीककर मृदंग बजाना शुरू किया। मृदंग-वीणा की मधुर, गम्भीर धुन हृदय के पार पहुंच गई। शरीर रोमांचित हो उठा।

मंजीरे बजने लगे। जिसके हाथ में वीणा थी, उसने आंखें बन्द कर गाना शुरू किया।

अन्य शिष्य भी साथ-साथ गाने लगे। एक स्वर, एक लय। हरिघोष से वातावरण गूंज उठा। लोग भी करतलों से ताल देते हुए भजन में सम्मिलित हो गए।

मनु आश्चर्य में डूब गई। चारों ओर देखा तो अपार भीड़ नजर आई। सभी तालियां बजा रहे थे। गा रहे थे। ऐसा लग रहा था, मानो पूरे खेत में हाथ उग आए हों और ताल देते हुए भजन में सम्मिलित हो गए हों। मनु सोचने लगी, 'दिन के उजाले में ये शिष्यगण एकदम साधारण से लग रहे थे। इनका वह रूप अलग था। कोई काला, कोई जटाधारी, कोई दुबला-पतला तो कोई मोटा। परन्तु इस क्षण तो वे कुछ अलग ही लग रहे हैं। भजन में तल्लीन मानो जिसका गुणगान वे कर रहे हैं 'उस' की आभा से उनके तन दमक रहे हों। अब दूसरा अभंग शुरू हो गया।

ओस गिर रही थी, परन्तु मनु उस ओर से बेखबर थी। वह तो खो गई थी। कैसा सुंदर रूप है ? उस परमात्मा ने गले में तुलसी के सुन्दर हार पहने हुए हैं। पीतांबर परिधान, कानों में मकर कुण्डल, कंठ में दमकती कौस्तुभमणि। उसका रूप बहुत सुन्दर है।

अचानक भीड़ में से आवाज सुनाई दी, "आ गए, आ गए !"

मनु ने पलटकर देखा तो सचमुच 'बाबा' आ रहे थे। हाथ में पकड़ी एक लाठी से लोगों को बैठाते हुए। गोल भरी-भरी मुद्रा। कंजी आंखें। दाढ़ी-मूंछें पूरी सफेद। सिर पर थोड़े-से, मगर चांदी से चमकते बाल। वस्त्रों के नाम पर चीथड़ों को जोड़कर बनाया हुआ कुर्ता और लुंगी। और आवाज ?

नहीं, ऐसी आवाज तो आजतक सुनी ही नहीं! धीर-गम्भीर। मेघों की गड़गड़ाहट जैसी। एक कशिश थी उस आवाज में। शरीर स्थूल अवश्य था, परन्तु उसमें चीते-सी चपलता थी।

वे आए और शिष्यों के साथ जा खड़े हुए। मनु अपलक नेत्रों से देखती रही। तात्याजी धीमे से बोले:

"बेटी, देखा, कितना तेजस्वी पुरुष है !"

बाबा ने प्रवचन आरम्भ किया। अति सरल शब्द, वही धीर-गंभीर वाणी। उनके संग जनसमुदाय भी गाने लगा, अभंग समाप्त होने पर चारों ओर स्तब्धता थी। सभी की आंखें बाबा की ओर लगी थीं। वे क्या बोलेंगे, इस ओर सभी का ध्यान लगा था। अपनी विशिष्ट कीर्तन-शैली के अनुसार वे कहने लगे :

"तुकाराम महाराज बहुत बड़े साधु हो गए अपने जमाने में। सदा हरिभजन में लीन रहते थे। मोह-माया से नितांत दूर। परन्तु हमारे और आपके लिए बहुत-कुछ लिख गए,

जोड़ोनिया धन उत्तम वेव्हारें..."

इस पंक्ति से बाबा ने निरूपण आरम्भ किया। फिर उस पर भाष्य शुरू किया और अर्थ समझाने लगे। धन कमाने के मनुष्य के प्रयत्न तथा उसके लिए अपनाए जाने वाले मार्ग। कोई व्यक्ति सच्चाई और ईमानदारी से धन प्राप्त करता है—जितनी जरूरत हो उतना ही, तो कोई जटिल, आड़े-तिरछे रास्ते से धन कमाता है। घूसखोरी, चोरी, डकैती आदि मार्ग कोई दुर्जन अपनाता है धन जमा करने के लिए !

बोलते-बोलते कभी वे गंभीर हो जाते, कभी मनुष्य की दरिद्रता उन्हें विह्वल कर डालती। निर्धनों की निरक्षरता तथा आलस्य से वे बहुत क्रोधित होते। अब बात रहन-सहन की चल रही थी। ब्राह्मण कुलों का आदर्श समझाने लगे। उनका नित्य स्नान, संध्या, पूजा-अर्चना करना। उनके खान-पान के रीति-रिवाज, साफ सुथरापन, विद्या आदि के बारे में बताने के बाद उन्होंने लोगों से ऊंचे स्वर में पूछा :

"बोलो, भगवान कितने ?"

सारा जनसमुदाय एक स्वर में बोल पड़ा :

"एक।"

"जिसने इस धरती मां को गढ़ा, आकाश की रचना की, सूर्य, चन्द्र का निर्माण किया, जो धूप बिखेरता है और पानी भी बरसाता है, वे भगवान कितने ?"

"एऽक !" भीड़ एक साथ बोली।

"देखना, फिर गड़बड़ करोगे, गलती करोगे। बताओ, भगवान कितने ?"

"एऽक।"

"तुम्हारे खेतों की मेढ़ पर बिराजे 'विरोबा' हैं या नहीं ?"

"हैं ऽ ऽ"

"फिर भगवान कितने ?"

"दो ऽऽ"

"तुम्हारे गांव के बाहर 'मरीआई'* का मन्दिर है या नहीं ?"

"हैऽऽ"

"फिर भगवान कितने ?"

"तीऽऽन"

"खंडोबा को पूजते हो या नहीं ?"

"हांऽऽ"

"फिर भगवान कितने ?"

"चाऽऽर"

"पहले अकल पर पत्थर पड़े थे क्या ?" बाबा हंसने लगे। अनपढ़ों को ज्ञान देने का काम बाबा इसी प्रकार किया करते थे। उनकी कुरीतियों के बारे में, उनके अंधविश्वासी होने के बारे में, उनके अज्ञान के विषय में वे इसी तरह संभाषण किया करते।

मनु रोमांचित हो गई।

कीर्तन रात के एक बजे तक चलता रहा। कीर्तन समाप्त होते ही बाबा ने सबको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उस भीड़ में कहीं खो गए।

आडकूजी, तात्याजी और मनु लगभग घंटा भर से बाबा को ढूंढ़ रहे थे। खेतों के किनारे उगी घास, ज्वार के खूंटे तथा नदी किनारे की कंटीली झाड़ियों आदि को वे पार कर गए। ऊपर से सर्दी और साथ में अंधेरा बिखराते पेड़। पूनम की रात होने से रास्ता जैसे-तैसे दिखाई दे जाता।

*शीतला मां।

अकस्मात मनु को बाबा के दो शिष्य सिर पर टोकरी रखे नदी पार करते दिखे। उसने चहककर तात्याजी से कहा :

"वहां देखिए तात्या।"

तात्याजी ने देखा तो उन्हें भी विश्वास हो गया कि ये बाबा के ही शिष्य हैं। उनके पीछे-पीछे वे तीनों भी नदी में उतर पड़े। पानी अत्यधिक ठंडा था। दांत किटकिटाने लगे थे, पर बाबा से मिलने की तीव्र इच्छा के आगे सर्दी गौण थी।

एक विशाल वृक्ष के पास अलाव जल रहा था और बाबा आग ताप रहे थे। साथ में दो-चार फक्कड़ शिष्य भी थे। रोटी की टोकरी लाने वाले शिष्यों के पहुंचते ही बाबा उनसे बोले, "लाओजी, लाओ! दिनभर में रोटी के दर्शन अब हो रहे हैं। लकड़ियां यहीं पर रख दो। खाने के बाद और आग तापकर सो जाना।"

इतने में बाबा का ध्यान इन तीनों की ओर गया। दो आदमी और एक बच्ची। पिता से सटी बच्ची अपलक नेत्रों से बाबा की ओर देख रही थी। गुरुगंभीर स्वर में बाबा बोले, "दिन भर का भूखा हूं, चैन से खाने भी न दोगे क्या?"

सुनते ही तात्याजी ने मृदु स्वर में कहा, "आप आराम से खाएं। हम चले जाएंगे।"

जाने के लिए तीनों मुड़े ही थे कि बाबा ने पूछा, "आप लोग इतनी सर्दी में नदी पार करके आए हैं क्या?"

"जी।"

"इतनी रात गए इस बच्ची को भी पानी में उतारा?"

"इसी का हठ था, बाबा।" तात्याजी कुछ सकुचा गए थे।

आश्चर्य में डूबे बाबा सोचने लगे। इतने में तीनों लौटने लगे। बाबा ने पुकारा,

"कहां चले, इधर आओ।"

तीनों प्रसन्नता से लौट पड़े। तात्याजी और आडकूजी ने दूर ही से प्रणाम किया। मनु सुध-बुध खोकर एकटक बाबा को देखती रही।

"नमस्कार करो, बेटी।" तात्याजी ने कहा।

मनु आगे बढ़ी, झुककर प्रणाम किया। बाबा ने अत्यन्त स्नेह से उसे अपने पास बिठा लिया, फिर पूछने लगे, "हमें खोजते जंगलों-वनों में घूमती रही, बेटी?"

मनु ने आंखों में भर आए आंसुओं को छिपाने का असफल प्रयत्न किया। उसका मुख अपनी ओर करते बाबा बोले :

"हमसे इतनी शर्म क्यों? नाम क्या है, बेटी?"

"मनोरमा...मनोरमा गणपत खरे।"

"साथ में पिता हैं क्या? क्या करते हैं? कहां रहते हैं?"

"स्कूल में मास्टर हैं। दापोरे में।"

"बाप्पा! दापोरे? इजारदारों का?"

"जी हां।"

बाबा खिलखिलाकर हंस पड़े।

"इजारदार के पिता से हमारा पुराना दोस्ताना है। आपको मालूम है संपत महाराज?"

"नहीं, बाबाजी।"

"बात पुरानी है। उन्होंने एक बार हमें लकड़ी फाड़ने के लिए बुलाया। कोई चार-छः मन होगी। हम लकड़ी फाड़ते रहे। वे सामने बैठे आराम से संतरे खाते रहे। हमारा काम पूरा हुआ। फाड़ी हुई लकड़ी एक जगह ठीक से रखी। इधर-उधर बिखरा कचरा साफ किया और कुल्हाड़ी रख दी। फिर जब हमने उनसे संतरे की एक फांक मांगी तो वे हंटर लेकर खड़े हो गए। हमने उनकी लकड़ियां छीलीं, उन्होंने हमारी पीठ छील दी। बस्स! मामला एकदम फिट बैठ गया।" कुछ देर तक बाबा विचारों में डूबे मुस्कराते रहे। फिर मनु की पीठ पर ममता से हाथ फेरने लगे। बोले, "स्कूल जाती हो, बेटी?"

"जीहां।"

"देखा, संपत महाराज! बामनों की बेटियां तक पढ़ती-लिखती हैं और आपके बच्चे 'काला अक्षर भैंस बराबर'।"

मनु तात्याजी के पास जा धीरे-से कुछ बोली।

तात्याजी ने हाथ जोड़कर बाबा से विनती की, "आप भोजन करें, महाराज । मनु कुछ अभंग सुनाएगी तबतक ।"

"अभंग आते हैं बेटी को ? सुनाओ, बेटी ।"

बाबा ने हाथ में रोटी ले ली और खाने लगे । बाबा कभी भी बर्तन में नहीं खाया करते थे । हथेली में जितना समाए उतना ही खाते थे । मनु ने अभंग गाना शुरू किया, उसका भाव था ।

"उस परमात्मा का नाम-स्मरण मानो अमृत रस है । सब सगुन उसी में समाए हों, ऐसे में मन उस रंग में रंगकर परमात्मा के चरणों में स्थिर हो गया । उस 'विट्ठल' की ही यह कृपा जानिए कि उसने सब इच्छाओं की पूर्ति, सुख की भेंट और असीम आनंद, सबकुछ इस तुकाराम को दिया है ।"

मनु का भावभीना स्वर । अत्यन्त सरलता से गाया जा रहा गीत । बाबा खाना भूल उसे निहारते रहे । अभंग समाप्त होने पर प्रसन्न हुए । बोले, "आंखें देखीं इसकी, संपत महाराज ? बिलकुल काली, गहरी ! काशी में जिन योगिनी मां के दर्शन किए थे, ठीक उन्हीं की जैसी ।"

फिर तात्याजी की ओर मुड़े बोले, "आप हमें दे दें यह बच्ची ।"

फिर हंसकर कहा, "इकलौती होगी । आप हां कहेंगे, पर इसकी मां मना कर देगी । अच्छा रहने दें । आप इसे कैसी शिक्षा देंगे ? क्या बनाने का विचार है ?"

"इसका मन ईश्वर के प्रति श्रद्धा से भरा रहे और इस माटी के प्रति यह कृतज्ञ रहे । बस, इतनी ही इच्छा है । इससे अधिक मैं इसे कुछ नहीं दे पाऊंगा । परन्तु इन दो बातों को वह अपने जीवन में उतार सके, ऐसा आशीर्वाद इसे दें, यही प्रार्थना है ।"

"हमारे आशीर्वाद से क्या होगा, बाप्पा ? आशीर्वाद तो 'वह' देगा, जिसने इसे इतनी सुन्दर आंखें दी हैं । ये सुन्दर आंखें उसी का आशीर्वाद हैं ।"

इस पर कोई कुछ नहीं बोला । बाबा भी भोजन समाप्त कर चुके थे । मनु ने कहा, "आप दापोरे से नाराज हैं, बाबा ?"

"नहीं बेटी, नाराज क्यों होऊंगा ?"

"हम इजारदार के बंगले के पीछे रहते हैं । एक दिन हमारे घर भोजन नहीं करेंगे ?"

"अरे मुक्ताई,* हमारे भाग में तो यही लिखा है कि कहीं भी खाओ और कहीं भी सो जाओ । बिछाने के लिए पत्थर और ओढ़ने के लिए आकाश ।"

"फिर भी आइए । मैं तो आपकी बेटी हूं न ?"

बाबा खिलखिला पड़े । फिर बोले, "आप सुन रहे हैं मास्टरजी ? अच्छा ही हुआ कि हमारी कोई रियासत नहीं है, वरना यह लड़की तो कोरट में दावा कर देती ! अच्छा बेटी, आऊंगा किसी दिन । परन्तु घर में नहीं, बाहर आंगन में परोस देना । अच्छा, अब आप लोग जाएं । रात बहुत हो गई है ।"

१६/

पिताजी के देहांत की खबर तात्याजी को एक महीने बाद मिली । बड़े भाई ने पत्र लिखा था, "...दुख में इतना डूब गया था कि पत्र लिखने का ध्यान ही न रहा । पिताजी जो कुछ छोड़ गए हैं वह तिलभर हिस्सा सभी में बंट जाना चाहिए । वैसे देने-बांटने योग्य बचा ही क्या है ? पाट का पानी कम हो गया है । जहां खंडी भर सुपारी होती थी, वहां पांच-सात सेर मिलना भी कठिन । धान का भी यही हाल है । पिताजी रात-दिन लगे रहते थे तो कुछ हो जाता था । अब चारों भाइयों के चार रास्ते हो गए हैं । मैं अकेला क्या-क्या देख सकता हूं ? समय निकालकर एक बार यहां आ जाओ और अपना जो कुछ भी मुठ्ठी भर बनता है, ले लो । भाइयों के हिस्से-बांटे पर जी रहा हूं, इस आरोप से बचने की इच्छा है ।"

"ऐसा है ही क्या, जिसके हिस्से-बांटे हों ?" सरस्वती का गला भर आया ।

"यह मुठ्ठीभर संपत्ति पूर्वजों की निशानी है । पिताजी के जाने के

*ज्ञानेश्वर महाराज की बहन मुक्ता ।

बाद उसके बंटवारे के बारे में पत्र आया है। इतने सालों से तो चाहते हुए भी वहां न जा पाया और आज अपना हिस्सा लेने के लिए वहां जाऊं...?" तात्याजी आगे न बोल पाए, आंखें भींग आईं थीं उनकी।

"आप वहां से कुछ भी नहीं लेना चाहते ?"

"बिलकुल नहीं।"

"तो आप एक बार वहां जाकर उन्हें बता क्यों नहीं आते ?"

"यानी, पैसों के लिए फिर किसी के हाथ-पैर जोड़े जाएं ?"

"आप अकेले ही हो आइए। चिट्ठी-पत्री से काम नहीं बनेगा क्या ?"

"मैं अकेला चला जाऊं ? नहीं, यह मुझसे नहीं होगा। वहां से तीनों साथ-साथ आए थे, तो जाएंगे भी तीनों। मैं अकेला नहीं जाऊंगा।"

महीने भर बाद कोंकण जाने की बात बनती दिखाई दी। इजारदार का बुलावा आया था। तात्याजी सोचने लगे, अब कौन-सी नई मुसीबत आ गई ?

इजारदार आरामकुर्सी पर पसरे हुए थे। पास ही एक टूटी, पुरानी कुर्सी पड़ी थी। तात्याजी को बैठने का संकेत किया।

"हमें पता है कि आप अंग्रेजी अच्छी तरह पढ़ लेते हैं।"

तात्याजी असमंजस में पड़ गए, हां कहें या ना। वे चुप रहे।

"आपने हमारा संतरों वाला बगीचा तो देखा है न ? यहां से दो मील दूर है।"

"जी नहीं, मैंने नहीं देखा।"

"खैर, कोई बात नहीं, आडकूजी आपको वहां ले जाएगा। हमारे ज्येष्ठ साढ़ू साहब, चिपकूणकरजी आ रहे हैं। बाग वाले बंगले में रहेंगे। वहां की शुष्क हवा उनकी सेहत के लिए काफी अच्छी है, इसीलिए आ रहे हैं। असिस्टेंट कमिश्नर थे। गोरे साहबों में एकमात्र नेटिव। बहुत बुद्धिमान हैं। अब रिटायर हो गए हैं। दृष्टि कमजोर पड़ गई है। उन्हें एक ऐसे आदमी की आवश्यकता है, जो घंटे-डेढ़ घंटे उनके पास बैठ उन्हें अखबार पढ़कर सुना सके। खबरें सुने बगैर उन्हें चैन नहीं पड़ता। गांधीजी क्या कहते हैं ? और लोग क्या कर रहे हैं ? कहां क्या हो रहा है ? यह सब जानना जैसे उनके लिए आवश्यक-सा है। वैसे छुट्टियां कब से पड़ रही हैं आपकी ?"

"जी, चार दिन बाद से।"

"फिर ठीक है। छुट्टियों में रोज वहां चले जाएं। दोपहर साढ़े बारह बजे वे खाना खाते हैं, फिर आराम से लेटकर खबरें सुनेंगे। किसी कारण उनका रीडर नहीं आ सका। आदमी दिलदार हैं। यदि खुश हो गए तो सौ दो सौ रुपए दे देंगे। कल संध्या समय उनसे भेंट कर लें।"

दूसरे दिन तात्याजी साढ़ूजी से मिल आए।

लौटने में विलंब हो गया था, सो हरिपाठ तथा गीता के पंद्रहवें अध्याय तक ही पढ़ पाए। फिर मनु से बोले, "बेटी, कुछ बिछाने के लिए लाओगी ? मां क्या कर रही है ?"

"दाल बघार रही है।"

"बघारने दो। मेरे साथ आओ, बाहर चांदनी में बैठकर बात करेंगे !"

दरी पर बैठते हुए बोले, "ऐसा लगता है बेटी, बहुत दिनों का संकल्प अब पूरा होगा।"

"कौन-सा संकल्प ?"

"कोंकण जाने का।"

मनु अपनी प्रसन्नता छिपा नहीं पाई। कोंकण के बारे में तात्याजी ने उसे बहुत-कुछ बताया था। वह सब देखने को मिलेगा, इसकी कल्पना से ही वह विभोर हो उठी। पिता की गोद में खिसकती बोली,

"परन्तु कैसे ?"

"मालिक के साढ़ू चिपकूणकर भले आदमी हैं। और हां, रहने वाल भी कोंकण के ही हैं। नजरें जरा कमजोर हैं। दो-चार साल में एक बार अवश्य कोंकण हो आते हैं। बड़ा स्नेह है उन्हें भी कोंकण से।"

"वे क्या कह रहे थे ?"

"कहने लगे, आप इतने वर्ष से कोंकण नहीं जा पाए तो आपसे रहा कैसे गया ?"

"फिर ?"

"मैं चुप रहा। मेरे वेतन आदि के बारे में पूछा। फिर कहा, अब समझा मैं, कि आप क्यों नहीं जा पाए। थोड़ी देर में उठे, संदूक से कुछ कागज-पत्र निकाले, बोले, मैं मध्यप्रदेश की जंगली जातियों का अध्ययन कर रहा हूं। एक पुस्तक लिखनी है। उसमें आप मेरी सहायता करें। मैं बोलता जाऊंगा, आप लिख लिया करें। रोज अखबार पढ़ने के बाद यह कार्य चलेगा। प्रतिदिन दो घंटे की नौकरी होगी। आपके कोंकण जाने की व्यवस्था मैं करवा दूंगा।"

"मां को बता दूं?" मनु की आवाज में अतिरिक्त उत्साह था।

"अभी नहीं। भोजन के समय बताएंगे। तुम एक काम करो, बेटी!"

"जी, बोलिए।"

"मेरी पुस्तकों में कवि माधव की 'समग्र कविता' रखी है, उसे ले आओ।"

मनु पुस्तक और लालटेन ले आई। तात्याजी ने अपनी प्रिय कविता वाला पृष्ठ खोला। आंखें बंद कर मनु से पूछा,

"बेटी, तुम्हें यह कविता याद है न? पोटासाठीं भटकत जरी...?"

"जी हां, याद है।"

"फिर क्यों न दोनों मिलकर इसे गाएं।"

दोनों ने मधुर स्वर में गाना शुरू किया।

बरार के एक गांव खेड़े में एक बहुत बड़े बंगले के पीछे, आंगन में बैठ, कोंकण से असीम स्नेह रखने वाला एक पिता तथा कोंकण के वर्णन को सुन अत्यधिक प्रभावित उसकी प्रिय बेटी, दोनों एक अत्यन्त आर्त बिरहा गा रहे थे। उनका गीत सुन सरस्वती भी बाहर आकर ओसारे के खंभे से टिककर खड़ी हो गई। तात्याजी बहुत देर तक भाव-समाधि में डूबे रहे। मनु पिता की ओर अपलक देखती बैठी रही। जन्मभूमि की स्मृति से अनायास ही तात्याजी की आंखें डबडबा आईं। उन्हें उन्हें पोंछते हुए बोले,

"बेटी, लालटेन जरा पास लाना।"

बत्ती के उजियारे में पुस्तक खोल मनु से बोले,

"सुना बेटी, कोंकण के दृश्य को रेखांकित कर, हृदय को छूने वाली इतनी सुंदर कविता कोई दूसरा नहीं रच पाया। वेदनाओं की ऐसी गहन अनुभूति कवि माधव को अपार कष्ट देती थी। इसीलिए उनकी लेखनी से इतनी प्रत्ययकारी कविता का सृजन संभव हुआ।"

"आपको भी तो असीम अपार स्नेह है कोंकण की धरती से। यदि आप कविता लिखें, तो वह भी वैसी ही बनेगी तात्याजी!"

"नहीं बेटी, शब्दों का वह ओज, वह तेजस्विता मैं कहां से ला पाऊंगा? ऐसा लगता है, जैसे कवि सह्याद्रि के पश्चिम की ऊंची चट्टान पर खड़ा है, झुककर, नीचे फैले कोंकण को निहार रहा है।

"बेटी. जिस समय का यह वर्णन है, तब शायद भादो का महीना रहा होगा और शायद उसका भी उत्तर-पक्ष। चारों ओर छाई हरियाली। उस हरे रंग में भी विविध छटाएं। कहीं धानी तो कहीं हरी। कहीं पीली तो कहीं जामुनी। यह दृश्य देख कवि प्रसन्न-पुलकित हो उठा है। उसे दिखते हैं नदियों के मुक्त प्रवाह जो अपने सखा से मिलने दौड़े चले जा रहे हैं। राह में कोई भी अवरोध नहीं, किसी के रोके वे एक नहीं।

"मनु, कोंकण की घाटियों में खिलने वाले फूलों को तो तुमने देखा ही नहीं। देखोगी तो चकित रह जाओगी। जामुनी, लाल, गुलाबी, कितने ही रंग, कितनी ही छटाएं। और उनके आकार? आऽहाऽहा एक फूल तो इतना छोटा बेटी, जितना अरहर का दाना। परन्तु इतना सुंदर, इतना आकर्षक, कि बस चूमने को मन करता है। बेटी, पहाड़ों की ढलान पर खिले फूलों को देखो तो आंखें अघा जाती हैं। कितने सुन्दर, विविध रंग, आकार...क्या कहें? सब अवर्णनीय हैं। शब्दों से परे हैं बेटी। उसे जिसने एक बार देखा तो जैसे वह दृश्य उसके मन-हृदय में हमेशा-हमेशा के लिए बस जाता है। असंभव है उस वातावरण से बाहर निकलना, वहां से दूर होना।"

मनु मुग्ध हो अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से तात्याजी की ओर अपलक देखती, सबकुछ सुनती रही। तात्याजी तो सुध-बुध खोए सुनाते ही जा रहे थे।

"बेटी, माधव ने कोंकण को पूर्णरूप से, आत्मीयता से भोगा है।

कोंकण के अणु-रेणू तो उसके घर-आंगन हैं। फल-फूलों से उसका घनिष्ठ परिचय है। उसे 'बिकुल' के बारे पता है तो उसका 'गोकर्णी' से भी परिचय है। वह 'केवड़े, को तो जानता ही है परन्तु उसकी सुगन्ध में मद-होश सर्प से भी उसकी घनिष्ठता है। कोंकण के सरोवर शरदऋतु में कमल पुष्पों से ओत-प्रोत हो जाते हैं, उसका रूप भी कवि के अंतर्मन में जड़ा है।

"मनु बेटी, इजारदारों की अमराई तो देखी है न तुमने ?"

"जी, हां। कितने बड़े, फैले-फैले हैं? उनके तले खड़े रहने से जैसे अपना बौनापन खटकता है। संध्या समय तो ऐसा लगता है जैसे चहुं ओर अंधेरा घिर आया हो, वहां ठहरने पर मन घबराता है। एक डर-सा रहता है मन में, जैसे अभी कहीं से कोई सामने आ खड़ा हो जाएगा!"

मनु के बालों को सहलाते तात्याजी बोले, "कोंकण में अमराई में ऐसा भय नहीं लगता बेटी। कलमी आम का पेड़ तो अपनी छोटी उम्र में ही फलने लगता है। फिर फल भी कितना बड़ा, जो हाथ में न समाए! आम के समीप होते हैं जामुन और आंवले के पेड़, फलों से लदे-फंदे। पेड़ों के नीचे खड़े हो जाओ तो फलों के गुच्छे समीप ही लगे दीखते हैं। कवि ने इसका भी वर्णन किया है।

"बस बेटी, इसी तरह फलना-फूलना तो कोंकण का धर्म है। खूब अच्छा पानी बरसे, धरती तृप्त हो जाए तो फिर उसकी तृप्तता साकार होती है फूलों के रूप में। अष्ट सात्विक भावों में एक भाव है 'पुलक'। मन में जब पूर्णतः भक्ति का संचार होता है तब, सारा शरीर पुलकित हो उठता है। ये फूल, ये हरियाली, धरती मां के शरीर पर छाई 'पुलक' हैं। उसके रोम हैं। तुम्हें यह सब देखना है बेटी।"

मनु ने अपना सिर तात्याजी की गोद में रखा था। वे जो कुछ भी बोल रहे थे, उसे वह पूर्ण एकाग्रता से सुन रही थी। उसमें एकाकार हो गई थी। अनायास आंखें झरने लगीं। जैसे ही तात्याजी को इसका आभास हुआ, उन्होंने उसका मस्तक दोनों हाथों में ले लिया और बड़े स्नेह से पूछा, "क्या हुआ, मनो बेटी ?"

"आप जो कह रहे हैं न, वह सब अंतर्मन में साकार हो गया है। आप

कह रहे थे कि यह सब मुझे देखना चाहिए, तो वह सब अपनी आंखों से मैंने अभी, इसी समय देखा। आपके वर्णन के ही साथ-साथ। यदि मैंने यह कुछ देखा नहीं भी होगा, तब भी वह सब मन में साकार हो उठा है। जब आपने कहा, 'धरती मां रोमांच से थरथराती है' उसी क्षण, उसी पल थरथराना मैंने स्वयं अनुभव किया। हर प्रकार के रंगबिरंगे फूल मेरी आंखों के सामने मानो बिछ गए। मैं सबकुछ समझ रही हूं।"

कुछ पल दोनों मौन रहे। फिर उनके हाथों में अपनी छोटी-सी हथेली रखते हुए मनु बोली, "एक वचन दीजिए तात्याजी।"

"कैसा वचन, बेटी ?"

"यही, कि मुझे कोंकण अवश्य ले जाएंगे।"

तात्याजी हंस दिए और बेटी को सीने से लगा लिया।

१७/

ग्रीष्म के दिन। लीप-पोतकर स्वच्छ, सुंदर बनाया गया आंगन। संध्या समय मनु पानी छींटती तो थोड़ी-सी ठंडक छा जाती। रात में वहीं एक बड़े-से टाट पर तीनों के बिस्तर बिछते। एक ओर तात्याजी, बीच में मनु दूसरी ओर सरस्वती। सोने के पहले तीनों बिछौने पर बैठकर 'पसायदान' का पाठ करते। कुछ समय तक ध्यानस्थ रहते, फिर सो जाते।

उस रात भी नित्यक्रम के बाद तीनों लेट गए। अभी आंखें लगी ही थीं कि अचानक मनु की नींद उचट गई। जगने पर उसने जो कुछ देखा, उससे वह आश्चर्य के साथ आनंद विभोर हो गई, मन झूम उठा।

निबौरी तले गाडगेबाबा खड़े थे और साथ में उनका शिष्य। तात्याजी को जगाने के लिए शिष्य आगे बढ़ना ही चाहता था, कि बाबा ने मना कर दिया, "सोने दो, गहरी नींद सो रहे हैं।"

विद्युत गति से मनु उठी, तात्याजी को जगाती बोली, "तात्याजी, बाबा आए हैं। वहां देखिए, नीम के पेड़ के नीचे।"

फिर दौड़कर बाबा के पास पहुंची। उनका हाथ पकड़कर पुलकित मन से बोली,

"आप आ गए, बाबा ?"

तबतक सरस्वती भी जाग गई थी। तात्याजी ने बत्ती की रोशनी कुछ तेज की और विनयपूर्वक आगे आते हुए बोले, "आइए न, बाबा।"

बाबा ने मनु के सिर पर हाथ रखकर कहा, "बड़े सुखी हैं आप लोग जो इतनी जल्दी सो सकते हैं। गरीबों को तो तबतक नींद नहीं जबतक दो कौर न जुट जाएं। ऐसे घूमते रहते हैं भूखे-प्यासे..."

मनु चौंक गई। बोली, "अभी तक भोजन नहीं किया आपने ?"

"नहीं बेटी, तुमने भोजन का निमंत्रण दिया था न ?"

तात्याजी ने सरस्वती की ओर देखा। वह तुरन्त घर के अन्दर गई।

"बाबा, अन्दर चलिए न।" मनु ने आग्रह किया।

बाबा एक कदम आगे बढ़े, बोले, "मनु की मां, आप बाहर आइए। घर में बचा-खुचा, बासी क्या रखा है बताइए।"

सरस्वती दरवाजे के पास आ गई। बोली, "बासी तो कुछ नहीं है, बाबा। आप कुछ देर आराम कीजिए तबतक मैं जल्दी ही कुछ बनाकर परोस दूंगी।"

अपने माथे को ठोंकते हुए बाबा बोले, "एक घर से पूरा खाना मांग कर भोजन करना यहां लिखा ही नहीं है। उसमें स्वाद भी नहीं आता और पेट भी नहीं भरता। आप ऐसा करें, एक जवारी की रोटी बना दें। आडकूजी कहां रहते हैं ?"

"यहीं पास में।" तात्याजी ने बयाया।

बाबा ने अपने शिष्य को निर्देश दिया,

"उनके यहां कुछ दाल-भाजी बची होगी तो ले आना। और सुनो, एकदम चुपचाप जाना, हो-हल्ला मचाओगे तो सारा खाना धरा रह जाएगा।"

शिष्य के जाने के बाद बाबा आंगन में आ गए। तात्याजी के दिए पुराने कंबल को बिछाकर उस पर बैठते हुए बोले,

"आइए, हमारे पास बैठिए। और हां हमारी मीराबाई कह' गई ?"

"आई, बाबाजी।"

"आओ बेटी, यहां आओ। हमें तो बुलाया और खुद इधर-उधर हो गई ! हां, अब बोलिए मनु के पिताजी, आप बरार के रहने वाले तो नहीं दीखते ?"

"कोंकण वासी हूं मैं।"

"कौन तहसील ?" प्रसन्न मन से बाबा ने पूछा।

"दापोली, गांव बिल्कुल खाड़ी के किनारे है।"

बाबा कुछ क्षण मौन रहे। फिर बोले, "कितना सुंदर देश है कोंकण। भीख मांगता पूरे हिंदुस्तान में घूमा, परन्तु कोंकण-सा प्रदेश कहीं नहीं पाया। कितने ऊंचे, कितने सुन्दर नारियल-सुपारी के झूमते वृक्ष। अमराइयां, कटहल, काजू के पेड़। ऐसा लगता है मानो कोंकण, बगीचा है उस परमात्मा का।

बाबा कहीं खो-से गए थे।

"ईश्वर ने ऐसे सुन्दर देश की रचना कर उसे निर्धनता, दरिद्रता का शाप क्यों दिया होगा ! साल भर आदमी कष्ट करे तब कहीं चार एक महीनों की उपज पाए। ईश्वर की सृष्टि और माया अपना अलग ही रंग दिखाती है। कोई फूल सुन्दर लगे, मन को भाए, परन्तु यदि उसे तोड़ने के लिए हाथ बढ़े भी तो हाथों में आते हैं अंगारे। हम उसी का दुख, शोक मनाते रह जाते हैं। अपने आप से पूछते हैं कि ऐसा क्यों ? उसका न्याय अपनी समझ से परे है।"

बाबा के एक ओर तात्याजी बैठे थे और दूसरी ओर मनु। दोनों ही सुध-बुध खोकर बाबा की बातों को ध्यान से सुन रहे थे।

"हम कहते हैं, ईश्वर कृपालु है। मन्नत मांगने पर दौड़कर आता है और हमारी इच्छा पूरी कर देता है। परन्तु हम भूल जाते हैं कि जो इस पूरी सृष्टि का निर्माता है, जिसने चन्द्र, सूर्य, तारे, धरती, इन सबका निर्माण किया है, क्या उसे हमारी मन्नत का लालच हम तक खींच लाता है ? वो क्या किसी बड़े साहब का सिपाही है ? जिसे अपने खेत की जरा-सी भाजी दे हम अपना काम करवा लें ! अरे, वह तो साहबों का

साहब है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, अपना काम नेकी से तथा मन लगाकर करो तो वह प्रसन्न हो जाएगा।

"और सुनो मीरा बेटी, ईश्वर निर्मित इस सृष्टि से प्रेम करो। बड़ा आनंद मिलेगा। अभिमान मत करो। दुखों-संकटों से मत घबराओ, उनका सामना करो। उसका स्मरण कर पूर्ण मन से जियो।"

इतने में शिष्य और आडकूजी आ पहुंचे। हाथ का बर्तन एक ओर रखकर आडकूजी ने साष्टांग दंडवत किया। बाबा ने पूछा, "क्या लाये हो?"

"दाल है, महाराज।"

"घर में बताकर या ऐसे ही उठा लाए?"

"नहीं बाबा, उसी ने दिया। वह तो दरसन करने आना चाहती थी, पर इन्होंने ही मना कर दिया।" शिष्य की ओर इशारा किया आडकूजी ने।

सरस्वती गरमा-गरम रोटियां ले आई। बाबा ने हाथ में रोटी और साथ के कुल्हड़ में दाल ली। खाने के बाद कुल्हड़ धोकर उसी में पानी पिया।

मनु को लगा, बाबा रात में ठहरेंगे। खूब बातें होंगी। सरस्वती की इच्छा थी मनु के स्वास्थ्य के बारे में उनसे कुछ पूछें, कुछ दवाई आदि के बारे में। परन्तु भोजन समाप्त होते ही बाबा निकल पड़े। तात्याजी ने आश्चर्य से पूछा, "यह क्या? आप तो चल पड़े?"

"हां, जाना ही पड़ेगा।"

दीन मुद्रा में मनु उनके पास आ खड़ी हुई। उसकी पीठ पर प्यार से हाथ फेरते हुए बाबा बोले, "फिर कब गांठ पड़ेगी, नहीं जानता, बेटी। पर तुम उस परमात्मा की हो जाओ। उससे कुछ मत मांगो। उसके आगे हाथ पसारकर स्वयं को बौना मत करो। न उसे छोटा करने की चेष्टा करो। उसी का हो जाने में बड़ा सुख है, बेटी। जनाबाई उसकी हो गई, लोग बोले, बिगड़ गई, तो हंस पड़ी। अच्छा, अब चलता हूं।"

जिस फुर्ती से आए उसी चपलता से चल दिए। तात्याजी, आडकूजी लालटेन ले कुछ दूर आना चाहते थे, परन्तु बाबा ने एकदम मना कर

दिया। देखते-देखते आंखों से ओझल हो गए। यह तो एक निस्संग का निकल जाना था। जैसे आकाश का सूर्य किसी एक गागर में क्षण मात्र के लिए ठहरा था। मोहवश उस प्रतिबिंब का आलिंगन करना आत्मवंचना ही होगी।

ऐसा लगा, जैसे बाबा इस परिवार के ही कोई वयोवृद्ध-सयाने हैं। अपने ही हैं, जो कोंकण के बारे में और भी कुछ कहते, मनु के स्वास्थ्य के बारे में पूछते, सभी के दुखों का निवारण करते। गृहस्थी की समस्याएं सुनते, सुलझाते। यह तो याद ही न रहा कि वे सर्वथा विरक्त हैं। भवसागर में मुक्त विहार करने वाले राजहंस हैं। जिस अनौपचारिकता से प्रकट हुए उसी विरक्तता से चल दिए। फिर आने का वचन नहीं, झूठी आस नहीं। उनका आसरा ले पलभर रुक सकें, ऐसी ऐसी कण-मात्र जगह नहीं।

वे सभी के थे! फिर भी किसी एक के न थे। यह परिवार, उन्हें जिस स्नेह और ममता में बांधना चाहता था, उसका स्पर्श भी उस विरक्त ने अस्वीकृत कर दिया। फिर भी वे बहुत कुछ दे गए और जैसे कुछ भी न दे गए हों।

जैसे एक कृष्ण मेघ पलभर के लिए छांह कर गया, एक सुन्दर-सा पक्षी क्षणमात्र के लिए निबौरी पर रुककर अपने विशाल पंख फैलाए दूर गगन में अन्तर्ध्यान हो गया। कहीं से कामधेनु आई, एक पल इस कुटिया में रुकी, फिर अपने मार्ग पर बढ़ गई।

इन सबसे नाता न जुड़ सका, इसका दुख करना ही व्यर्थ था। बाबा को आमंत्रित किया, यह सत्य नहीं, वे इस घर-आंगन में पधारे और भोजन कर गए, यह भी सत्य नहीं। एक निर्लिप्त, मुक्त प्रकृति के चारों ओर मोह-माया का जाल फैलाना व्यर्थ नहीं तो और क्या? उससे तो उनका-अपना दोनों का अपमान ही होगा।

एक बात याद रही, जो उन्होंने मनु से कही थी कि 'उसी' की हो जाओ। सुख आए तो गर्व मत करो, दुख आए तो घबराओ मत, हारो मत। जीवन के सुख-दुखों को शान्ति से स्वीकारो।

१८/

विदर्भ में वैसे ही बहुत गर्मी पड़ती है। और इस वष तो मानो वह चरम सीमा पर थी। तात्याजी के दोनों कमरे टीन से छाए थे। भट्टी-सा तप जाता सबकुछ। हवा का एक झोंका भी नहीं। पेड़ों की पत्तियां रंगहीन, तेजहीन। चैत में नई कोमल कोंपले पेड़ों को ढकतीं, किन्तु इस वर्ष तो वे भी झुलस गईं सी प्रतीत होती थीं।

तात्याजी भोजन के तुरन्त बाद भरी दोपहरी में चिपकूणकर साहब के यहां जाने के लिए निकल पड़ते। तब मनु दरवाजे पर खड़ी हो जाती। गर्म तपते झोंकों को सहती वह पिता के लौटने तक दरवाजे से टिककर खड़ी रहती। पिता लौटते तो कड़ी धूप से चेहरा लाल पड़ा दीखता। पसीना सूखने पर सफेद रेखाएं माथे पर उभर आतीं, गला सूख जाता।

उनके लौटते ही मनु उनका हाथ पकड़कर उन्हें स्नानघर के पास ले जाती। गीले कपड़े से लपेटे घड़े का ठंडा पानी मुंह धोने के लिए देती। उनके लेट जाने पर सरस्वती गुड़ तथा जीरा डला सरबत ले आती।

उनका यह कठिन परिश्रम मां-बेटी से देखा न जाता। मनु कहती,

"तात्याजी, इतनी धूप में आप वहां न जाया करें।"

तात्या हंस पड़ते,

"बेटी, अब हाथी निकल गया, पूंछ भर रह गई है। चिपकूणकर जो काम कर रहे हैं, उसमें मुझे भी बहुत रस आ रहा है। जंगली आदिवासी जातियों पर बहुत काम किया है उन्होंने। उनके रहन-सहन, शादी-ब्याह, दहेज पद्धति, कुलाचार, देवी-देवता, अंत्येष्टि आदि के बारे में उन्होंने बड़े परिश्रम से बहुत जानकारी प्राप्त की है। काम अब बहुत थोड़ा बचा है। उसे अधूरा छोड़ने की मेरी इच्छा नहीं है। वे मुझे अपने साथ शरबत भी पिलाते हैं। मुझे आने-जाने में जो कष्ट होता है उसे वे अच्छी तरह समझते हैं। उनका अखबार पढ़ने-सुनने का नियम भी हमें याद रखना चाहिए। समझी न ? वे मुझसे बहुत प्रसन्न हैं।"

उस दिन सुबह से ही काफी गर्मी और उमस थी। सबकुछ स्तब्ध जान पड़ता था। बड़े-बड़े वृक्ष भी स्तब्ध। कहीं कोई पत्ता तक नहीं हिल रहा था। सरस्वती बोली,

"मेरी बात मानिए। आज न जाइए।"

"बस, दो-तीन दिन का ही काम बचा है सरस्वती। मुझे रोको मत।"

सुनकर मनु जिद करने लगी। बोली, "मुझे भी अपने साथ ले चलिए न तात्याजी।"

प्यार से तात्याजी बोले, "पागल हो गई हो क्या ? अब कोंकण जाने की तैयारी करो। सामान वगैरा बांध लो। और हां, मैंने आडकूजी से गाड़ी के लिए कह दिया है..."

"मैं बंगले से छाता मांग लाती हूं। वे मना नहीं करेंगी।" सरस्वती कुछ परेशान लग रही थी।

"यानी भीख मांगो। ना बाबा ना। मैं सिर पर अंगोछा डाल लूंगा। चाहो तो एकाध प्याज मेरी टोपी में रखने के लिए दे दो।"

जिद करके, घर से बाहर निकल पड़े तात्याजी। चारों ओर लू चल रही थी। रास्ते की धूल भी तपकर अंगार हो गई थी। चप्पल के अंदर भी तपी धूल कांटों-सी चुभती प्रतीत हो रही थी। जल्दी-जल्दी कदम उठाते तात्याजी खेतों तक पहुंच गए। अब आगे संतरे के बाग तक कोई बड़ा वृक्ष नहीं, था जिसके नीचे पल-दो-पल ठहरा जा सके। बबूल तथा कंटीली जंगली झाड़ियों के अतिरिक्त रास्ते में कुछ नहीं था। आगे वाले मोड़ पर मुड़ते ही उन्हें अचानक एक बड़ा-सा तालाब दीखने लगा। उस तालाब में छोटी-छोटी नावें तैरती दिखाई दीं। आश्चर्य, उन नावों को कोई खे नहीं रहा था। बिना नाविकों के वे इधर-उधर डोल रहीं थीं।

तात्याजी अचकचा कर रुक गए। घर तथा संतरे के बगीचे के बीच ऐसा तालाब पहले कभी देखा हो, ऐसा याद नहीं आ रहा था। और न ही कभी सुना था, उसके बारे में। उन्हें पलभर के लिए ऐसा लगा कि वे रास्ता ही भूल गए हैं। या किसी भूल-भुलैया में अटक गए हैं। अवश्य कहीं कुछ भूल हो रही है। दापोरे के इतने समीप तालाब हो, और उन्हें

उसकी जानकारी तक नहीं ? नहीं ! यह सब भ्रम है। 'मृग मरीचिका' है यह। इतना सत्य जान पड़ता है कि जैसे पानी की बड़ी, ऊंची लहरें एक के बाद एक आगे की ओर दौड़ती चली आ रही हैं। एक दूसरे से टकरा रही हैं। उन लहरों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया है। दिशाहीन भटकती ये नावें भी मानो बिलकुल समीप से गुज़रती चली जा रही हैं। जैसे हाथ बढ़ाकर छू लेंगी उन्हें।

वे निश्चल खड़े रहे एक जगह। तपती धूप। दहकती धूल। वे अकेले। ऐसा लगा कि उस तालाब की लहरों से वे घिर गए हैं। दम घुटता-सा जान पड़ा। जो सांस अंदर की ओर जाती वह मानो पिघलता शीशा। उन्होंने आंखें बंद कर लीं, फिर भी बाहर के वातावरण का असर कम न हुआ।

अचानक एक आवाज आई। उन्होंने आंखें खोलीं तो देखा, एक पंछी चक्कर खाकर नीचे गिर पड़ा था। पंख फड़फड़ा रहा था। बार-बार अपनी चोंच खोल रहा था। वे उसके पास जा बैठे। कुछ पल पंख फड़फड़ाने के बाद उसने शरीर ढीला छोड़ दिया। चोंच खुली रह गई, गर्दन लुढ़क गई एक ओर।

ठंडी सांस भरकर वे उठ खड़े हुए। अब उन्हें भी खड़ा रह पाना कठिन लगा। सिर में अचानक तीव्र वेदना होने लगी। ऐसा लगा कि खाया-पिया सब उलट जाएगा। बड़ी कठिनाई से स्वयं को नियंत्रित कर घर की ओर लौट पड़े।

हाथ में पुस्तक लिए मनु 'दरवाजे पर खड़ी थी। मां बोली, "पैर दुखते नहीं क्या तेरे ? अब गए हैं तो अपने समय से ही लौटेंगे।"

मनु चुपचाप वहीं खड़ी रही। धूप की तपन सहती, कभी एक पैर उठाती कभी दूसरा। दृष्टि निरंतर सड़क की ओर लगी थी। उसे लगा जैसे युगों से वहीं खड़ी है वह।

अचानक उसके मुंह से निकला, "तात्या..."

हां, तात्याजी ही थे। संतरे के एक पेड़ को पकड़े खड़े थे।

उसी पल मनु बाहर भागी। उसने देखा, तात्याजी को जोरों से उल्टी हो रही है। वह अस्फुट-सा चीखी भी, किन्तु तुरन्त स्वयं को सम्भाल वह

एकदम प्रौढ़ा बन गई, मानो उनकी मां बन गई। उसने पिता की पीठ पर हाथ फेरते हुए पूछा, "और उलटी होगी, ऐसा लग रहा है क्या ? नीचे बैठ जाइए, मैं पीठ सहला देती हूं।"

तात्याजी ने हाथ के इशारे से मना कर दिया। फिर उसके कंधों का सहारा लेकर घर की ओर चल पड़े। आंगन में पहुंचते ही मनु ने मां को आवाज लगाई। सरस्वती घबराई हुई बाहर आई। तात्याजी को सहारा दिया। मनु दौड़कर अंदर गई। तात्याजी का बिस्तर लगा दिया। मां-बेटी ने मिलकर उन्हें बिस्तर पर लिटाया। मनु दौड़कर आडकूजी को बुला लाई।

"का, साधुबाबा !" वह तात्याजी के पास बैठते हुए बोला, "धूप लग गई क्या ? ऐसी हवा में तो ऐसा एक-दो बार होता ही है। मनु की मां, जले कंडे का एकाध ढेला होगा क्या ?"

मनु दौड़कर राख का ढेला ले आई। आडकूजी ने उसे भिगोया और तात्याजी की नाभि पर रख दिया। फिर मनु को समझाते हुए बोला,

"ढेले को सूखने न देना, इस पर पानी डालते रहना। लू लग गई है इनको।"

सरस्वती ने चावल की धोवन में पिसा हुआ जीरा डाला और पीने के लिए ले आई। मनु ने ठंडे पानी की पट्टियां तात्याजी के माथे पर रखीं और पूछा,

"अब आराम आ रहा है, तात्याजी ?"

तात्याजी मलान से हंसे,

"धूप आज कुछ तेज थी, सो उसका असर हो गया। पर अब मैं ठीक हूं।"

चिन्तातुर स्वर में सरस्वती बोली, "मैंने तो कहा भी था, कि आज न जाएं।"

"नहीं री, धूप के कारण कहीं दुनिया का काम रुक जाता है ! वे तो मेरी राह देख रहे होंगे..."

"रहने भी दो। काम क्या प्राणों से बढ़कर होता है ?"

"तुम समझ नहीं पा रही हो सरस्वती। दो-तीन दिन में मेरा काम

समाप्त हो जाएगा। जितनी जल्दी कोंकण के लिए निकल पड़ें, उतना ही अच्छा। फिर सफर में भीड़ बढ़ जाती है। गाड़ी में भीड़, जहाजों में भीड़। और फिर इतनी दूर जाएंगे तो चार दिन अधिक रह पाएंगे।"

मनु का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहने लगे,

"कोंकण से मुझे असीम स्नेह है। उस स्नेह को, उस धरोहर को मैं मनु को सौंपना चाहता हूं। उसे सबकुछ दिखाने की उत्कट इच्छा है।"

"मैंने वह सबकुछ देख लिया है तात्याजी। मुझे वह अत्यधिक भाया है।"

"न, बेटी। कल्पना में किसी वस्तु का भा जाना, प्रत्यक्ष देखने से कहीं भिन्न है। किसी संध्या जब कोंकण के अपने घर से दूर खाड़ी को देखोगी तो..."

तात्याजी बात पूरी न कर पाए और कराहने लगे। मनु घबरा गई,

"क्या हुआ?"

कुछ पल बाद तात्याजी ने आंखें खोलीं,

"सिर के पिछले हिस्से में बहुत पीड़ा हो रही थी। पर अब कुछ आराम है।"

"आप चुपचाप आराम से लेटे रहिए। बिलकुल बातें न करें।"

आंखें मूंद तात्याजी चुपचाप लेटे रहे।

रात में मनु की नींद अचानक टूट गई। देखा, पिताजी कुछ लिख रहे थे।

"दैनंदिनी लिख रहे हैं आप?"

"हां, बेटी!" कुछ पल रुके फिर बोले,

"बेटी, तुम्हारे जन्म से लेकर आजतक की अनेक छोटी-बड़ी घटनाओं के बारे में इसमें लिखा है। कोई खास कारण तो नहीं है इसे लिखने का, फिर भी लिखा है।

"कितने मजे की बात है बेटी, कि 'खुल जा सिमसिम' बोलते ही सब-कुछ सामने आ जाता है। याद है, तुम बचपन में कितना रोया करती थी? फिर बंदर के बच्चे को देख तुम्हारा मन कैसे बहल गया...सबकुछ मैंने इसमें लिख रखा है।"

फिर कुछ पल रुके,

"बेटी यदि जीवन में कभी अपनी जीवनी लिखने की इच्छा हुई तो ये मेरा लिखा तुम्हारे बहुत काम आएगा।"

"आपका स्वास्थ्य बिलकुल ठीक नहीं है तात्याजी। आप आराम करें।"

"अच्छा, बेटी, अब आराम ही कर लेता हूं, लेकिन तुम यहां मेरी बाहों में आकर मेरे पास लेटो। मेरे मन में समा जाओ, बेटी..."

वह पन्ना उनकी दैनंदिनी का अंतिम पन्ना सिद्ध हुआ।

दूसरे दिन वे चल दिये। अनंत की यात्रा पर। कभी न लौटने के लिए।

ओह, यह कैसा दुख है! परमात्मा में विलीन हो जाने की खबर शाम को मिली।

हाय! दोपहर भर बेचारे रास्ते की तपती धूल में पड़े-पड़े अंतिम घड़ियां गिनते रहे। फिर शाम होते-होते तो सबकुछ समाप्त हो गया।

दोपहर में भोजन किया और तपती धूप में निकल पड़े। मैंने और मां ने बहुतेरा समझाया, लाख मना किया जाने के लिए, पर एक न सुनी। हंसते हुए बोले थे, "अभी तो मना कर रही हो, पर आज से आठ दिन बाद जब कोंकण में घर के पिछवाड़े नाले के ठंडे जल में पैर डालकर मजे से बैठोगी तब की सोचो। उस समय आज की इस हंसी का अर्थ समझ पाओगी। तब वहां, कोंकण में, इस वक्त हम अचार वाले आम के पेड़ तले तुकोबा के अभंग का पाठ कर रहे होंगे समझी। चलो तैयारी करो..."

कैसी तैयारी! अब पछता रही हूं कि मैं भी क्यों नहीं उनके साथ उस दिन बाहर निकल पड़ी!

दोपहर के तीन बज चुके थे। तात्याजी के लौटकर आने का समय बीत चुका था। मन अस्वस्थ हो गया। किससे कहूं? किसे बुलाऊं? बंगले के एक-दो चक्कर लगाए तो पाया, खस के पर्दों की ठंडक में सारा बंगला आराम से सो रहा है।

साहस बटोरकर अंदर गई। मालकिन के कमरे के सामने पहुंची तो देखा, उस कमरे के अंदर भी खस के परदे लगे हैं और वे आराम कर रही

हैं। वहीं बाहर ठिठककर खड़ी रही। एक नौकरानी उनके पैर दबा रही थी, उसने देखा तो मालकिन को बताया। उन्होंने वहीं से पूछा, "क्या है ?"

अंदर जाकर उन्हें बताया तो बोलीं, "आ जाएंगे थोड़ी देर में। चिपकूणकरजी को वैसे भी बातें करने की आदत है सो तुम्हारे पिताजी को बैठा लिया होगा।"

"पर...कल उनकी तबियत बिगड़ गई थी।"

"तो इसमें घबराने की क्या बात है ? चार-पांच सालों में एकाध बार इतनी गर्मी तो पड़ती ही है। कोंकण जाने वाली हो न ? हो गई सारी तैयारी ? अरे, खड़ी क्यों हो ? बैठो जरा।"

मेरी अस्वस्थता उनकी समझ में न आई। वहां से मैं सीधे आडकूजी के पास गई। वह खेतों से लौटे ही थे। मुझे देखते ही बोले, "क्या बात है मुक्ताबाई ?"

उतरे चेहरे से उसे सारा हाल सुनाया।

"उंह, इत्ती-सी बात है न ! मैं अभी जाकर ले आता हूं। तुम चिंता मत करो।"

"मैं भी साथ चलती हूं।"

"बाप्पा, फिर तो सयाने लोग मुंह में मिट्टी नहीं डालेंगे हमारे ? इत्ती धूप में तुमको संग ले जाना ? नहीं बाबा, नहीं !"

आडकूजी चले गए। मैं वहीं खंभे से सटकर खड़ी रही। मां बेचारी तो दसियों बार अंदर-बाहर कर चुकी थी। पचास बार पूछ चुकी होगी, "दीखे क्या, री ?"

इतने में आडकूजी की बैलगाड़ी आती दिखाई दी। पीछे आदमियों की भीड़। भीड़ बाहर ही रुक गई। भारी मन से आडकूजी नीचे उतरे। मैं दौड़ती-रोती गाड़ी की ओर भागी। बड़ी मुश्किल से मुझे आडकूजी ने सम्भाला, "रोना मत मनुबाई ! रोना मत।"

उसी दिन तात्याजी ने चिपकूणकर का लिखने काम पूरा कर दिया था। उन्होंने प्रसन्न होकर तात्याजी को ढाई सौ रुपये दिये थे। अंगोछे में रुपये बांध वे जल्दी ही वहां से निकल पड़े। उसी अग्निदाह में ! खेतों

तक पहुंचते-पहुंचते उन्हें ऊष्माघात का तीव्र झटका लगा। वे वहीं गिर पड़े। आडकूजी ने बताया कि उन्हें खून की उल्टियां हुई थीं। अंतिम क्षणों में उनके मुंह सेहाय कोंकण, हाय कोंकणही निकला होगा।

निर्जीव देह को गाड़ी से नीचे उतारा गया। देखा, तो मुंह रक्त से सना हुआ था। कमीज पर भी खून लगा था। मां यह सब न देख सकीं, बेहोश होकर गिर पड़ीं। मैंने तात्याजी का सिर अपनी गोद में रखा और धीमी आवाज में पठन करने लगी, लेकिन मन तो कहीं और था।

सोचने लगी, इन्हें कौन-सा स्वर्ग प्राप्त हुआ होगा ? इन्होंने आजीवन किसी के मन को ठेस नहीं पहुंचाई, किसी को धोखा नहीं दिया। सदैव नाक की सीध में चलते रहे, तुकाराम महाराज के उपदेश को सामने रख पूरा जीवन बिताया। गलत रास्ते से धन नहीं जुटाया और जुटाये धन से मोह नहीं रखा। भले ही वे गले में तुलसी की माला नहीं पहनते थे, फिर भी साधु थे। सच्चरित्र थे। प्रभु भजन से कभी चूके नहीं। जन्मभूमि से असीम स्नेह रखा। तो क्या उनका पुनर्जन्म होगा ? उनका सिर मेरी गोद में था। घर में भाग-दौड़ मची हुई थी। सभी क्रिया-कर्म की व्यवस्था में जुट गए थे। मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

दुःख अपार था। धरती फट गई थी। आसमान टूट पड़ा था। चारों ओर मानो आग-ही-आग। इस परदेस में अपना सगा कोई नहीं। जिस वृक्ष के आसरे हम मां-बेटी खड़ी थीं, वही उखड़ गया। वे गुरु थे, सखा थे, सहोदर थे, मित्र थे, मार्गदर्शक थे, और पिता थे मेरे। मेरे सुख-दुःख के हिस्सेदार थे। उनके अंक में छिपने का आनंद कुछ और ही था। उनका हाथ मेरे शरीर पर जब होता तो मुझे ऐसा लगता कि इस वज्रकवच के नीचे मैं पूरी तरह सुरक्षित हूं।

वे मेरे तात्या, जिन्हें जन्मभूमि कोंकण जाने की साध थी, तीव्र इच्छा थी और जो उन प्रयत्नों में ही ढह गए तब...तब उनका पुनर्जन्म तो निश्चित है। पर कहां ? आंखों से निरंतर आंसू झरते रहे।

अरे ! यह बात ध्यान में पहले क्यों नहीं आई ? वे, वे मेरी ही कोख से जन्म लेंगे। मेरा ही दूध पीएंगे।

ये विचार मन में आवें, ऐसी उमर तो नहीं थी, फिर भी मन में आया जरूर। कैसे आये, पता नहीं। उसी आवेग में मैंने तात्याजी का मस्तक अपने वक्ष से लगा लिया। लगा, ममतावश मेरी छाती से दूध बहने लगा था।

१६/

पंडितजी के लड़के ने चिता को अग्नि दी। जो आठ-दस लोग अंत्येष्टि में गए थे, लौट आए। घर में जहां शव रखा था, कहते हैं, उस जगह को लीपकर वहां आटे का दिया जलाना चाहिए। मुझे इस प्रथा का पता ही नहीं था। मां अभी भी बेहोश थीं। आडकूजी की पत्नी मां के सिरहाने बैठी थीं। बंगले की औरतें पांच-दस मिनट के लिए आकर चली गई थीं। जिस डॉक्टर ने सर्टिफिकेट दिया था, वह मां को भी देख गया था। इजारदार नहीं दिखे।

मैं तात्याजी की पुस्तकों वाली अलमारी से सटकर बैठी हुई थी। अपार दुख था। पर आंखों का पानी ही सूख गया था। लोग बाहर खड़े थे। आडकूजी अंदर आये।

पूछने लगे, "दिया नहीं जलाया आटे का ?"

मैं उसकी ओर ताकती रही। बोली कुछ नहीं। वह उठे और बाहर जाकर बोले, "दिया नहीं जलाया तो कोई बात नहीं। घर में झांकने भर से भी काम चल जाता है। अब चलें।"

बाकी लोगों के चले जाने के बाद वह मां की तरफ मुड़े। लक्ष्मी से पूछा, "का बोले डागदर ?"

"वह बोले कि आप ही होश में आ जावेंगी। कुछ करने-धरने की जरूरत नहीं है।"

"ठीक है। तुम इन्हीं के पास रुको, मैं दूसरे काम देखता हूं।"

उनके जाने के बाद मैं मां के पास जा बैठी। लक्ष्मी मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगी, "कैसा भला इन्सान था ! न बुखार, न बीमारी..."

और भी बहुत-कुछ कहती रही वह। शब्द कानों में घुस रहे थे, परन्तु मन रोता था, कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। मां के माथे पर हाथ फेरती मैं बैठी रही। लक्ष्मी बोली, "मनु, जाओ, नहा लो। यहां मत बैठो।"

यंत्रवत उठी और घर के पिछले दरवाजे से बाहर निकली तो सीधे पूर्णामाई के किनारे एक पेड़ के नीचे जाकर बैठ गई।

ज्ञानेश्वरी के एक चरण का स्मरण हो आया।

कैसा शरीर है यह ? सुबह जब नहाकर आए, तो कहने लगे, "मनु, हम पाट के किनारे-किनारे ऊपर तक पहुंचेंगे, जहां उसका उद्गम है। वहां केतकी का घना जंगल है। उसकी डालियां एक-दूसरे से एक जगह इस प्रकार गुंथ गई हैं मानो कुर्सी बन गई हों। उसमें बैठकर कितनी ही बार मैंने झरने को नहर में कूदते देखा है। अत्यंत मनोहर दृश्य। गाय के दूध की शुभ्र धारा झरती है न जैसे, बिल्कुल वैसा ही लगता है।" अब वह शरीर नहीं है। श्मशान में अभी भी आग बुझी नहीं होगी। चलती-फिरती, बोलती काया, मिट्टी में बदल गई। और वह जरा-सी मिट्टी मिल गई इस मिट्टी के महाकाव्य सागर में !

मुझे इस मिट्टी पर बहुत क्रोध आ रहा था।

"तुम ऐसी क्यों हो, अपने ही आश्रितों को खा जाने वाली ! मेरे तात्याजी को निगल लिया ! न जाने कितने लोगों को ऐसे ही निगला होगा तुमने !" और भी बहुत कुछ कहना चाहती थी कि अचानक उसका दूसरा रूप सामने आया। वह रूप सहज, सरल तथा करुणामय प्रतीत होता था।

सूरज अब डूबने को था। गोधूलि के प्रकाश से वातावरण भारी-भारी-सा लग रहा था। सामने खेत की मेड़ पर कुछ छोटे झुरमुट थे, और वहीं बीच में 'रामकाठी' का एक वृक्ष था। उसके परे घनी अमराई। अमराई के परे पहाड़ों की लंबी कतार, जिन पर शाम का धुंधलका छा गया था।

रामकाठी का मानो अनंत में विलीन होता ऊंचा बृक्ष कह रहा था, "एक दिन तो सभी को विलीन होना है। जो जन्म लेता है, उसका मरण भी निश्चित है। मरण के पश्चात फिर जन्म। यह क्रम तो चलता ही रहेगा। श्रीराम तथा श्रीकृष्ण भी ऐसे ही विलीन हो गए। उनके कदमों के निशान तक न रहे। फिर तुम्हारे तात्याजी की क्या कहें ? इस विशाल धरती माता को देख रही हो न ? इसमें कितने ही जन्म लेते हैं और फिर अग्नि को समर्पित हो जाते हैं ! एक दिन उसे भी तो यही राह अपनानी है। तब सारा एकाकार हो जाएगा और रहेगी मात्र सहजा-वस्था !"

आश्चर्य ! यह सारा दर्शन तो कहीं पढ़ा है, याद भी है, परन्तु आज वास्तव में समझ पा रही हूं इसके मर्म को। इसे समझने के लिए मूल्य चुकाना पड़ा तात्याजी के प्राणों का !

बरसात में उगी दूब का ग्रीष्म में नामोनिशान नहीं रह जाता। तूफान आकाश में विलीन हो जाता है। तरंगें जलाशय में सिमट जाती हैं। नींद खुलते ही स्वप्न-सृष्टि विलुप्त हो जाती है। ठीक वैसे ही कल्प-क्षय के क्षणों में यह सारा-का-सारा प्रकृति में विलीन हो जाएगा...

"मनु, कहां हो ?"

हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई। लक्ष्मी ढूंढ़ती हुई आई थी। बोली, "वह होस में आ गई हैं। आपको बुला रही हैं। आप यहां काहे आ बैठीं ?" दौड़कर घर पहुंची।

२०/

तात्याजी की तेरहवीं हो गई। कोंकण पत्र भेजा था, पर कोई नहीं आया। जिसने अग्नि दी, उसी ने बाकी रस्में भी पूरी कर दीं। लोगों की जबान पर यही बात थी, मां-बेटी का आसरा छिन गया। खुले आकाश तले आ बैठीं।

परन्तु मैं ऐसा कदापि नहीं मानती। ऐसा मानना, बोलना तो तात्याजी के प्रति अन्याय ही होगा। संतवाणी और संस्कारों का जो कवच उन्होंने मुझे पहनाया था, वह क्या छिन्न-भिन्न हो सकेगा ? वह कवच तो कल्पांत के कठिनतम घाव भी सह सकता है। मैं उनकी ऋणी हूं। फिर बाबा भी तो कह रहे थे कि सुख का गर्व न करना और दुःखों से घबराना, हारना मत। प्रत्येक स्थिति में 'उस' का स्मरण करो और अपनी जिन्दगी खुद जियो। जीवन में सुख-दुःख को शांति से स्वीकार करो।

मां तो असीम दुःख में डूब गई थी। अब आगे कैसे और क्या होगा इसी की चिंता उन्हें सताने लगी। मैंने कहा, "तुम चिंता मत करो, मां ! मैं घर में कुछ बच्चों को पढ़ा दिया करूंगी.."

"इस देहात में भला कौन अपने बच्चे घर पढ़ने भेजेगा ?"

"पढ़ाने का काम न मिला तो मंदिर में बैठ पोथियां-ग्रंथ पढ़कर सुनाया करूंगी। वह भी न हुआ तो चार-छह घरों से आटा मांग लूंगी।" अपनी आवाज की दृढ़ता से मैं भी कुछ हैरान थी।

"और रहेंगे कहां ?" मेरी बात काटते हुए मां ने पूछा।

"कहीं भी रह लेंगे। मंदिर के पिछवाड़े वाले ओसारे में.."

"वहां, खुले में ?"

"खुली जगह हुई तो क्या हुआ ? हमें वहां कोई कुछ नहीं कहेगा। मनुष्य अभी इतना वहशी नहीं हुआ है। यदि तुम्हें वहां अच्छा न लगता हो तो आडकूजी के खेत में छप्पर डालकर रह लेंगे।"

एक संध्या मालकिन आईं। उन्हें देखते ही मां की रुलाई फूट पड़ी। मैंने एक फटी-पुरानी चटाई बिछा दी, जिस पर वे बैठ गईं। कुछ देर बाद मां का मन थोड़ा शांत हुआ। आंखें पोंछती बोलीं, "हम जल्दी ही यह जगह खाली कर देंगे।"

"और जायंगी कहां ?"

"अभी कुछ निश्चय नहीं किया।"

"फिर भी ?"

"कहीं भी। हनुमानजी के मंदिर में। यदि वहां न हो सका तो किसी खेत में झोंपड़ी बनाकर रह लेंगे।"

"खाओगी क्या ?"

"दो-चार घरों से कुछ आटा-दाल मांग लेंगे।"

"इससे तो अच्छा है, आप यहीं रहें।"

"उपकारों का बोझ कबतक उठावेंगे? फिर सयानी होती बेटी..."

"इस बच्ची को साथ लेकर भीख मांगना क्या उचित होगा ?"

इस पर मां चुप रहीं। मैंने कहा, "भीख मांगने मां नहीं जाएंगी, मैं जाऊंगी। उस काम में क्या शर्म! क्या लाज! वह तो ज्ञानेश्वरजी ने भी मांगी थी।"

कुछ देर तक वे मेरा मुंह ताकती रहीं। फिर मां से बोलीं:

"कोंकण जाने का क्या हुआ ?"

"अब क्या बरार और क्या कोंकण ? क्या देस क्या परदेस! सब समान ही हैं।" मां की आवाज में उदासी टपक रही थी।

"गांव में आपके हिस्से का क्या-क्या है ?"

"छोटा-सा बगीचा और थोड़ी-बहुत धान की खेती। वहां जाकर, हिस्से के लिए झगड़ना ही पड़ेगा। अब उतनी शक्ति मुझमें नहीं।"

"एक बार घर जाकर देख क्यों नहीं आतीं ?"

"इनके जाने के बाद ? हम दोनों को आया देख उन लोगों के माथे पर बल पड़ जाएंगे। हमें भार ही समझेंगे वे..."

"यह भी सच है।" मालकिन बोलीं। कुछ समय तक चुप्पी रही। फिर मेरी ओर मुड़कर बोलीं, "लड़का होता तो नित्य पूजा इससे ही करवा लेती। तुम पोथियां पढ़ती हो ना ?"

मैंने गर्दन हिलाकर 'हां' कर दी।

"क्या पढ़ती हो ? व्यंकटेश स्तोत्र ? शिवलीलामृत ?"

"यह सब तो मैंने कभी नहीं पढ़ा।"

"यह नहीं पढ़ा ? फिर क्या पढ़ती हो तुम ?"

"ज्ञानेश्वरी...भागवत।"

"क्या ऽऽऽ ? ज्ञानेश्वरी ? वह तो पढ़ने-समझने में बहुत कठिन है। हमारी बड़ी मौसी, सासजी पढ़ती हैं। वे कहती हैं—"

"जी नहीं, कठिन नहीं है। भाषा अवश्य पुरानी है। परन्तु क्या वह हमारे-आपके लिए नहीं लिखी गई ?"

"मुझे पढ़कर सुनाओगी ? उन्हें तो इन सबमें न कोई रुचि है और न उत्सुकता। किन्तु मुझे अच्छा लगता है यह सब।"

मैंने मां की ओर देखा। वे बोलीं:

"एक बार रहने का ठिकाना हो जाय तब अवश्य सुनाएगी।" वह कुछ देर बैठी रहीं। कुछ कहना चाहती थीं शायद, पर चुप रहीं। उनके जाने के बाद मां बोलीं,

"वे क्या कहना चाहती थीं, समझ नहीं आता।"

मालकिन की एक चचिया सास थीं। विधवा थीं और कई वर्षों से इन्हीं लोगों के साथ रह रही थीं। वे शाम को हमारे घर आईं। उनके और मां के बीच काफी देर तक धीमी आवाज में बातचीत होती रही। उनके लौटते समय मां बोलीं:

"कल सुबह खबर करवाती हूं।"

मैं यों ही तात्याजी की पुस्तकें पलट रही थी। मां पीछे से आईं और अपने दोनों हाथ मेरे कंधे पर रख मेरी पीठ से सिर सटाकर रोने लगीं। उनकी हिचकियां बंध गईं। मैं मुड़ी और उनका हाथ पकड़कर उन्हें धीमे-से तात्याजी की बैठक पर बिठाया। उनका सिर अपनी गोद में लेकर उन्हें थपकियां देती रही। कुछ देर बाद उनका मन शांत हुआ। वे उठ बैठीं और बोलीं,

"मालकिन ने संदेश भिजवाया है..."

"क्या ?"

"तुम हर दोपहर उन्हें ज्ञानेश्वरी-भागवत पढ़कर सुनाया करो और मैं..."

"बोलो, रुक क्यों गईं ?"

"उन्होंने कहा है कि आपको और हमें, दोनों को ही एक-दूसरे की गरज है। कोई किसी पर भार न बना रहे, इसलिए..."

"इसलिए क्या ?"

"दोपहर में मैं उन्हें रसोई में मदद कर दिया करूं ।"

मैं चुप रही । थोड़ी देर बाद मां फिर बोलीं :

"तुम्हारे पिता थे, तब बात और थी । वे वेतन पाते थे । अब वे नहीं रहे । कटोरा लेकर दर-दर भटकने से तो अच्छा है कि स्वयं काम करें और दो कौर खाएं।मालकिन की इच्छा है कि हम दोनों रोज वहीं उनके घर दोपहर का भोजन करें, पर मैंने मना कर दिया । वे जो कुछ देंगी, मैं घर लाया करूंगी । वहां खाने में बड़ा संकोच होगा ।"

थोड़ी देर वे चुप रहीं । फिर बोलीं,

"तुम चुप क्यों हो ? कुछ तो बोलो ।"

तात्याजी के देहान्त के बाद मेरे तो आंसू ही सूख गए लगते थे। मैं जैसे पत्थर हो गई थी । परन्तु आज वह बांध टूट गया । मां की गोद में सिर रखकर मैं फूट-फूटकर रोई । वे मेरी पीठ सहलाती, बहुत कुछ समझा रही थीं । जी-भरकर रोई मैं उस दिन । फिर उनसे बोली :

"वहां तुम्हें कोई अपमानित न करे !"

मुंह पर आंचल धर बाहर की ओर ताकती मां बोलीं :

"गरीबों का भी कोई मान-अपमान होता है, बेटी ?"

मैंने दृढ़ता से कहा :

"जिस दिन अपमान हुआ, उसी दिन हम यह सब छोड़ देंगे और चल पड़ेंगे ।"

"कहां ?"

"कहीं भी ! तीर्थयात्रा कर लेंगे । किसी पेड़ के नीचे तुम्हें बिठा, भजन गाकर मैं दाल-चावल मांग लिया करूंगी । दूसरे दिन दूसरा गांव, नई जगह ।"

"ये इतनी बड़ी-बड़ी, काली-कजरारी आंखें लिये..." मां अभी भी मेरी आंखों में झांक रही थीं ।

"फिर मैं वही करूंगी जो सूरदास ने किया । ये आंखें ही शाप सिद्ध होने लगीं, तो जिसने दी हैं 'उसे' ही लौटा दूंगी ।"

ठंडी सांस छोड़ी मां ने कहा :

"अखिर बेटी किसकी हो ? इन्हीं की न !"

"काकीजी से तुमने क्या कहा मां ?"

"मुझे मालूम था, बेटी कि तुम्हारी प्रतिक्रिया क्या होगी ! मैंने उनसे यह बात कही तो बोलीं, 'जिस क्षण तुम मां-बेटी का अपमान होगा उसी क्षण मैं भी तुम्हारे साथ घर छोड़ दूंगी ।' बेटी, अब फैसला तुम पर छोड़ा है ।"

"मां, जैसा उचित लगे, करो । मैं तुम्हारे साथ हूं ।"

यह तो मन को भाने वाला काम मिल गया। बड़े सवेरे उठकर ज्ञानेश्वरी का चिन्तन-मनन । बारहवां अध्याय सरल है, तात्याजी ने सभी के स्पष्ट अर्थ संक्षेप में लिख रखे हैं, उसी का सहारा है । गूढ़ तत्वज्ञान तो अभी समझ से परे है, परन्तु उसे अत्यधिक परिश्रम से समझाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती । जिनके समक्ष मैं पठन करती हूं, वे सारी स्त्रियां ही हैं । निःशंक मन से सुनतीं । खुलकर अर्थ समझाया तो प्रसन्न हो जातीं ।

संत ज्ञानेश्वर की बात ही अनूठी है । माता-पिता का साया तो बचपन में ही खो दिया था। गुरुदेव की कृपा-दृष्टि को ही सबकुछ माना । अपने वाक्पुष्पों से उन्होंने गुरु का जो पूजन असीम भक्तिभाव से किया उससे तो गुरुदेव गद्गद् हो गए होंगे । उनकी दृष्टि भी कैसी शुद्ध-निष्कलंक ! मां के दूध-सी । उदारता के लिए चहुं ओर प्रसिद्ध ! निरंतर प्रसन्नता बरसाने वाली । उसके प्रसादरस में डूब जाएं तो अग्नि की तपन प्रतीत नहीं होती । शोक मन को दुःखी नहीं करता । इस रस में जो भीगे, वही सारे लोकों का सुख भोगे ।

ज्ञानेश्वरजी ने जिस गुरु कृपा-दृष्टि का वर्णन किया है उसका अनुभव उन्हें कैसे हुआ होगा भला ! कैसी होगी उनकी कुटिया ? अंदर बैठें तो सारी दिशाएं निहार सकें ऐसी ! आलंदी के अधिकांश निवासियों ने तो उन पर क्रोध के अंगारे ही बरसाए । माता-पिता ने अपनी कृश काया पर सारे घाव सहकर उन्हें संरक्षण दिया । अंगारों की हल्की-सी दहक भी उन तक न पहुंचने दी । मुक्ताई को खिलाती-सुलाती माता को ज्ञानेश्वर ने अवश्य ही देखा होगा । उसके लाड़-दुलार भी देखे होंगे । मुक्ताई को छाती

से लगा मां कैसे थपकियां देतीं। दूध पिलाते, लोरी गाते भी उन्होंने देखा होगा मां को।

गुरु कृपा-दृष्टि का वर्णन करते समय मानो उन्होंने स्वयं यह सब जिया हो। योगाकाश में उन्मुक्त विचरने वाले राजहंस थे वे। उनकी कल्पना की उड़ान सामान्य से कहीं अधिक ऊंची! उन्होंने कहा है कि यह मानो सोऽहं-सिद्धि की आकांक्षा पूर्ण करती है। मूलाधार की गोद में खिलाती है। हृदय आकाश का झूला बना उसमें झुलाती है। समस्त सत्रह जीवन-कलाओं का दुग्धपान कराती है। अनाहत ध्वनि की लोरी सुनाती है।

ज्ञानेश्वर की विलक्षण काव्यस्फूर्ति ने इन समस्त रूपों को ग्रहण किया। वे संपूर्ण जगत की 'मां' बन गए, अन्यथा जिसने अपनी उम्र के बाईसवें वसन्त में ही समाधि ले ली, उसे जन-मानस योंही 'माता' कैसे मान लेता?

अब तो प्रत्येक पंक्ति का अर्थ स्पष्ट होने लगा, मानो दीपक मिल गया। उसीके उजाले में सबकुछ स्पष्ट दीखने लगा। सारे अर्थ स्पष्ट होते गए। नित नए भावों को, अर्थों को ग्रहण करने की क्षमता बढ़ने लगी। काया रोमांचित हो उठती। परमार्थ का द्वार ही खुल गया। कभी लगता, क्या यह सब दूसरों को समझाना आवश्यक है? इसे तो स्वयं ही भोगना चाहिए!

दोपहर में बंगले में जब मैं ज्ञानेश्वरी के पाठ के समय भावार्थ स्पष्ट कर समझाती या कहीं अधिक विवरण देती तो सुनने वाली महिलाएं आश्चर्य में डूब जातीं। उनका कौतूहल, प्रशंसा, सभी कुछ दीख पड़ता। काकी पूछतीं, "यह सब तुम कैसे समझ लेती हो बेटी?"

मैं सिर झुकाए कहती:

"काकीजी, मुझमें इतनी बुद्धि और क्षमता कहां? यह सब तो तात्याजी लिखकर स्पष्ट कर गए। उन्होंने आजीवन इसका चिंतन-मनन किया। मैं तो बस वही अपने शब्दों में व्यक्त कर देती हूं।"

"देखो, बेटी, हमें न बनाओ! तुम तो उसमें खो जाती हो। प्रत्येक पंक्ति का भावार्थ अधिकाधिक स्पष्ट कर सरल शब्दों में समझाती हो,

वरना वे पंडित, जो सत्यनारायण की कथा सुनाने आते हैं, उनका ढंग ही अलग भावार्थ समझाने का—जैसे, एक बार याने एक बार, नैमिषारण्ये याने नैमिषारण्य में, नारदो मुनिः याने नारदमुनि...आदि। मरों से पूछो कि 'नैमिषारण्य' कहां है? तो कहते हैं हमें क्या पता? परन्तु तुम्हारी बात ऐसी नहीं है, बेटी..."

मैं यह सब सुनकर लज्जा से झुक जाती। अपनी प्रतिभा न होते हुए भी प्रशंसा सुनकर जी घबराने लगता। लगता, आगे से अब भावार्थ अधिक स्पष्ट करने का अधिकार नहीं। बस एक बार पढ़ो और आगे बढ़ो। परन्तु अगले चरण में पहुंचते ही संकल्प विस्तृत हो जाता। भावार्थ शब्द रूप में बहने लगता। कितना सुन्दर, कितना गरिमामय और कितना ओजस्वी है यह काव्य! इसके ऐश्वर्य का बखान तो शब्द-सीमा से परे है! और ऐश्वर्य भी कैसा, जिसे धन-संपत्ति की तुला में तोला नहीं जा सकता। यह उदार है, अपने बच्चों के लिए मुक्त-हस्त से लुटाया हुआ। बच्चे जिस वस्तु की इच्छा करेंगे, वह अवश्य पूरी होगी। यह निजजन-कल्पकता है।

इस मां के आंचल में समा जाने पर कुविचारों का दमन अपने आप हो जाता है। इच्छा होने लगती है सत्संग की। अपूर्व भक्ति-भाव की। मन में असंख्य कमल खिलते हैं, अष्ट-सात्विक भावों के। 'उस' का स्मरण होते ही काया रोमांचित हो जाती है। नयन बरसने लगते हैं। कंठ भर आता है। अपार धनराशि के बदले भी जो न मिल सकेगा, ऐसा सद्भाव जागृत हो उठता है।

भावार्थ स्पष्ट करते-करते मैं उसी में खो जाती। उसी में बह जाती।

एक बात से मैं आश्वस्त हो गई कि इस घर में कभी भी अपमान नहीं होगा। एक दिन पठन पूरा कर घर जाने के लिए निकली ही थी कि इजारदार के मामाजी से सामना हो गया। वे दिन भर कुछ-न-कुछ काम किया करते थे। उस दिन एक टूटी कुर्सी ठीक करने में लगे थे। मदद के लिए कोई न था। मुझे निकलते देखा तो आवाज दी:

"ए लड़की, क्या नाम है तुम्हारा? चलो, इधर आओ।"

मैं पहुंची तो बोले :

"इसे पकड़ो। हां, जरा मजबूती से। वह किताब नीचे रखो। तुम्हारी किताब को कोई खा नहीं जाएगा !

"ए पागल, ठीक से पकड़ ! क्या हाथों में जोर नहीं है ? खाना खाती है या नहीं ?"

इतने में काकीजी दौड़ती हुई आईं और लगभग चिल्ला पड़ीं :

"मामा, ये क्या कर रहे हैं आप ?"

"कुर्सी टूट गई है सो जोड़..."

"और मदद के लिए किसे बुलाया है ?"

"मास्टरजी की लड़की को !"

मेरी बांह पकड़ मुझे वहां से हटाती काकी बोलीं :

"ये मामाजी हैं बिलकुल मिलिटरी के सिपाही ! शूट बोले तो शूट ! कहां शूट, कैसे शूट, कुछ देखेंगे नहीं। किसी को भी पकड़ काम में जुटा देंगे। इस लड़की को ऐसे हल्के कामों में न घसीटा करो, बताए देती हूं।"

"क्यों ? क्या मंदिर की देवी है यह ?"

काकी क्रोध से लाल हो गईं। बोला :

"बताए देती हूं, इस लड़की को किसी काम में न घसीटा करो।"

फिर मुझे पकड़ मालकिन के पास ले गईं। कुछ मिर्च-मसाला डाल सारी बातें उन्हें बताईं। उनसे एक आदेश निकलवाया कि घर में सभी मेरे साथ आदर का बर्ताव करेंगे, तब कहीं जाकर वे शांत हुईं।

२१/

दिन गुजरते रहे। मां बंगले में भोजन बनाने का काम करतीं। काम समाप्त हो जाने पर दोनों की थाली परोस लातीं। तात्याजी के गुजरने के बाद मां ने रात का खाना बंद ही कर दिया था। मेरे लिए दोपहर का थोड़ा बचा खाना रह जाता था। मैं उसी से काम चलाती।

संध्या समय आडकूजी श्रोता बन आते। उनके सम्मुख वाणी मुक्त-प्रवाहित हो बहने लगती। बंगले में होने वाला संकोच यहां न रहता। दूसरे दिन बंगले में जो कथन-पाठन करना होता, उसकी तैयारी भी हो जाती।

ज्यों-ज्यों चिन्तन-मनन बढ़ता गया, एक बात स्पष्ट होती गई कि सभी संत एक ही विचारधारा के हैं। अपनी-अपनी बोली तथा वाणी में वे एक ही प्रवाह प्रस्तुत करते हैं। अंतर केवल प्रस्तुति के ढंग में होता। श्री ज्ञानेश्वर का ज्ञान आकाश की ऊंचाई का होता तो जनाबाई की बातें जनसामान्य की समझ के योग्य होतीं। परन्तु इससे अंतर कुछ न पड़ता। सभी संतों की भक्ति एक, मति एक, गति एक ! संत ज्ञानेश्वर ने गुरु कृपा-दृष्टि को माता (माऊली) रूप में ग्रहण किया तो संत तुकाराम ने साधु-संतों को ही माता-पिता का रूप माना। उपरोक्त अर्थ के संदर्भों को मैं एकत्र करती, लिखती और आडकूजी के सामने उसका भावार्थ स्पष्ट करने का अभ्यास तथा प्रयत्न करती। दूसरे दिन बंगले में कहीं अधिक सरलता से, और गहन भावों को स्पष्ट करने का प्रयास करती। इस कार्य में खूब रस आने लगा।

अब तो काकीजी का स्नेह निरंतर बढ़ता जान पड़ता। वे हमेशा घर आने लगीं। हमलोगों की आवश्यकताओं का ध्यान रखने लगीं। एक दिन मां बंगले का काम समाप्त कर खाना लेकर घर आ रही थीं कि मालकिन ने उन्हें आग्रहपूर्वक रोककर पंद्रह रुपये थमा दिये और बोलीं :

"किसी भी चीज की आवश्यकता पड़े तो संकोच न करना।"

मां बेचारी सकुचा गईं। मालकिन ने यह जो स्नेहभाव और अपनापन दिखाया, उसका मूलाधार काकीजी के अतिरिक्त और कौन होगा भला ?

संध्या समय यह बात जब आडकूजी ने सुनी तो बोले :

"मनु की मांजी, वह जो ऊपर बैठा है न, उसे सभी की चिंता है।"

हमेशा की तरह आज भी अपने समय से बंगले पर पहुंची। ठाकुरजी के कमरे में ज्ञानेश्वरी खोल बैठी ही थी कि एक लड़की दरवाजे पर खड़ी होकर मुझे एकटक देखने लगी। आयु में बराबर की ही लगती थी। शायद एकाध बरस बड़ी ही हो। आंखें तथा नाक ठीक इजारदार

जैसी। मैं समझ गई कि यह उन्हीं की बेटी है, जो नागपुर में पढ़ती है और अपनी मौसी के साथ रहती है। पहले भी दो-एक बार देखा याद आया। रोज आने वाली महिलाएं आ गईं थीं। प्रवचन शुरू हुआ तो उसने एक बार कमरे में झांका और आगे निकल गई। मालकिन ने आवाज दी :

"दुर्गा, आओ न अन्दर। यहां आकर बैठो।"

"न, मैं बाहर ही ठीक हूं।"

"अरी, चार अक्षर कानों में पड़ भी गए तो कोई तुम्हारा धर्मान्तर नहीं हो जाएगा!"

"मुझे तुम्हारी इस ब्रह्म-माया में कोई रुचि नहीं। अनदेखी, अनसुनी बातें हैं सब।"

मालकिन क्रोधित हो गईं। बोली :

"जो लड़की पाठ कर रही है, वह भी तुम्हारी उम्र की ही है।"

"रहने दो।" इतना कहकर वह चली गई। मालकिन बोलीं,

"पढ़-लिख जाने पर लड़कियों का यही हाल होता है। तुम पढ़ो बेटी, आगे।"

संध्या समय मां ने बताया कि दुर्गा का विवाह तय हो गया है। वह अब यहीं रहेगी। आगे और नहीं पढ़ेगी। मैंने जब बताया कि दोपहर में दुर्गा क्या कर रही थी तो मां बोलीं :

"हमें क्या लेना-देना है बेटी, उनकी बातों से! जब तक प्रेम से तुम्हारा पाठ सुनती हैं, तबतक सुनाओ। यदि उनका मन भर जाए तो बंद कर दिया करो।"

"तुम तो जानती ही हो मां, पाठ समाप्त हो जाने पर मैं पल भर भी वहां नहीं रुकती।"

"वही ठीक भी है। बड़े घर के बड़े लोग हैं वे। उनकी हमारी क्या बराबरी?"

"मुझे कोई शिकायत नहीं है।"

"होनी भी नहीं चाहिए। और दुर्गा कौन यहां हमेशा रहेगी। कल को विवाह होगा तो अपने घर चली जाएगी।"

"वह भले ही यहां जनमभर रहे। अब मैं अपमान सहने की आदी हो गई हूं।"

कुछ देर तक मां मेरी ओर देखती रहीं। फिर दुःखी मन से बोलीं :

"यदि अपनी छत्रछाया खो जाए तो बचता है केवल खुला आकाश! दूसरों के छत्र-चामर अपने किसी काम के नहीं, बेटी।"

आश्चर्य! दूसरे दिन देखा तो, दुर्गा सबके साथ आ बैठी थी। उस दिन का विषय था 'मन'। मन को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर उसके साथ बुद्धि का रोपण कर देने से, 'मैं' और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता। जब मन, बुद्धि उसके चरणों में लीन हो जाते हैं, तब अहंभाव विलीन हो जाता है। जैसे बत्ती बुझाने पर तेज खो जाता है, प्राण जाने से चलन-वलन रुक जाता है! ठीक वैसे ही अहंभाव भी लुप्त हो जाता है। तात्याजी ने जो कुछ लिख रखा था, उसीके आधार पर कुछ बोलने, समझाने का प्रयत्न कर रही थी, परन्तु सुनने वालों को लगा कि यह सब मैं स्वयं समझा रही थी।

जो संकल्प-विकल्प करता है, वह है 'मन'। जो निश्चय करती है, वह है 'बुद्धि'! कोई चिन्तन करने लगा तो उसे ही नाम दिया 'चित्त'। अहंभाव के अंतर्गत इन तीनों मन, बुद्धि और चित्त की सहज लीलाओं की क्रीड़ा होती है। 'मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार' मिलकर बना है 'अन्तः-करणचतुष्टय'!

एकाएक ध्यान गया तो दुर्गा को एकटक अपनी ओर देखते पाया।

मेरा पाठ पूरा हुआ। ग्रंथ ठाकुरजी के पास रख नमस्कार किया और चल पड़ी। मुझे लगा, दुर्गा भी मेरे पीछे-पीछे दरवाजे तक आई है। मैंने ध्यान नहीं दिया। चौबारे की सीढ़ी उतर, अमरूद-संतरे के पेड़ों को पार कर घर पहुंची। तात्याजी की बैठक पर बैठी, फिर हंसकर मां से बोली :

"आज एक बड़ी मजेदार बात हुई।"

"क्या?"

"पाठ सुनने दुर्गा भी आ बैठी थी, आज।"

"कितनी देर?"

"शुरू से अंत तक !"

"ऊब तो नहीं गई थी ?"

"मैं क्या जानूं ? परन्तु बजे की बात तो आगे है..."

"क्या ?"

"वह मेरे पीछे-पीछे..."

तभी बाहर किसी के कदमों की आवाज हुई। उठकर देखा तो काकी और दुर्गा !

"मनु बेटी, इसे जानती हो ? यह है हमारी दुर्गा। आज पाठ सुना तो जिद करने लगी कि मेरी जान-पहचान करा दो। मैंने कहा, तुम खुद क्यों नहीं चली जाती ? अपने यहां ही तो रहती है, तो बोली, तुम भी साथ चलो। इसीलिए ले आई हूं।"

फिर दुर्गा की ओर मुड़ीं। कहा :

"क्यों ? अब तो ठीक है ना ! मैं जाऊं ?" और काकी चली गईं।

मैंने कहा :

"आप बाहर क्यों खड़ी हैं ? अंदर आइए।"

दुर्गा मेरे पीछे-पीछे कमरे में आई। मैंने एक दरी बिछाकर उससे बैठने का अनुरोध किया। वह कमरा निहारती रही। चारों ओर पुस्तकें ही-पुस्तकें। ऊपर आले में पुस्तकें, अलमारी में पुस्तकें, एक कोने में करीने से रखी पुस्तकें। पुस्तकों के सिवा कोई दूसरा सामान दिखाई नहीं दिया। कहने भर के लिए एक-दो पुराने टीन के बक्से, गठरियां और ऐसा ही कुछ छुटपुट। दुर्गा बोली :

"सारी पुस्तकें-ही-पुस्तकें ?"

"जी हां, तात्याजी की।"

"मैं देख सकती हूं ?"

"अवश्य।"

वह अलमारी के पास आई। मैंने अलमारी खोली। प्रत्येक पुस्तक सुंदर आवरण वेष्टित, उस पर तात्याजी के मोतियों-से अक्षरों में लिखा उसका नाम। कुछ नाम दुर्गा ने पढ़े। फिर मेरी ओर दृष्टि घुमाई। पूछा :

"ये जो ऊपर रखे हैं, क्या सभी धार्मिक ग्रंथ हैं ?"

"वे सब तत्वज्ञान की पुस्तकें हैं।"

"आपने क्या उन सभी पुस्तकों को पढ़ लिया है ?"

हंसते हुए मैंने कहा :

"नहीं तो। यह सब पढ़ा था तात्याजी ने। मेरी समझ से भी परे हैं। इन किताबों को पढ़ने के लिए जिस बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है, वह भला मेरे पास कहां !"

"आज आप जो कुछ समझा रही थीं, वह तो इतना ऊंचा तथा महान था कि मैं एक भी अक्षर समझ नहीं पाई।"

मैं मुस्कराई। बोली :

"मेरा श्रोता वर्ग सबकुछ चुपचाप सुन लेता है। धार्मिक ग्रंथ होने के कारण वे सब सोचते हैं कि पढ़ रही है तो पढ़ने दो। हम भला बीच में क्यों बोलें ? परन्तु यदि किसी ने परीक्षा लेने की ठानी तो समझ लीजिए, अपनी तो शामत आ गई। निकाल बाहर करेंगी वे मुझे।"

सांस छोड़ती दुर्गा बोली :

"कल मैंने आपको देखा था।"

मैंने बीच ही में विनम्रतापूर्वक कहा :

"देखिए दुर्गाजी, हम तो हैं आपके आश्रित। आपके आसरे रहते हैं, खाते हैं। फिर आप मुझसे ज्येष्ठ भी हैं सो मुझे 'आप' न कहा करें।"

उसने मेरे कंधे पर हाथ रख दिया। बोली :

"आपको मेरी सौंगध..."

"किस बात की ?"

"तुम भी मुझे 'आप' न कहकर, 'तुम' ही कहोगी।"

आनाकानी करते हुए मैंने कहा,

"तुम कहना इतनी सहजता से कैसे हो पाएगा ? फिर उन सभी को बुरा भी लग सकता है।"

मेरे कंधे से हाथ हटाकर वह दरवाजे की ओर चल दी। बोली :

"अच्छा चलती हूं।"

मैंने आश्चर्य से पूछा :

"तुम आई किस काम से थीं ? और चल कैसे दीं ?"

वह हंसते हुए लौट आई। कहा :

"जो बात अन्तर्मन चाहता है, वही मुंह से निकलती है। अब इसमें हेरफेर नहीं करना। मुझे तुम ही कहना।"

अब एकदम हलका लग रहा है। यों ही, कल से एक बोझ-सा लग रहा था, जो दुर्गा ने लादा था मेरे सिर पर, अनजाने में। अनिच्छा का, अनचाहा बोझ। आज उसने स्वयं आकर उसे उतार दिया।

मेरा हाथ पकड़कर वह दरी पर बैठ गई। चारों ओर देखा और पूछने लगी,

"बाकी सामान कहां है ?"

मैंने हंसकर जवाब दिया :

"दुर्गाबहन, और कुछ भी नहीं है। जो है, सो सामने रखा है।"

"यानी ? तुम्हारे कपड़े, साड़ियां, कहां रखती हो ?"

"बस, सबकुछ इन्हीं बक्सों में है। इससे अधिक कुछ नहीं है।"

"और सोती काहे पर हो ?"

"वे टाट की बोरियां रखी तो हैं।"

"गद्दे नहीं हैं ?"

"गद्दों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। दिन भर काम में व्यस्त रहने पर जब रात में लेटते हैं तो नींद आते देर नहीं लगती। थके-मांदे शरीर को क्या टाट और क्या गद्दा !" मेरे मन में कोई संकोच न था।

"और कंघी-कुंकुम का सामान ?"

मैंने दीवार पर लगे आइने की ओर इशारा किया।

दुर्गा आइने तक गई और नाराज होकर बोली :

"यह पुराना शीशा, टूटा हुआ ! इस पर तो हजार धब्बे पड़े हैं। कई जगह से पारा उड़ गया है। इसमें देखकर कंघी करती हो ? अपनी इन सुंदर, बड़ी-काली आंखों को इसमें निहारती हो ?"

"कंघी करने के लिए तो वही पर्याप्त है। अपनी आंखों के बारे में आजतक मैंने कई बार सुना है, परन्तु क्या आपको ऐसा लगता है कि मैं इन आंखों को शीशा सामने रखकर घंटों देखती रहती हूं ?"

"शीशे में नहीं देखती ?"

मैं कुछ उदास हो गई। बोली :

"मैं बचपन से ही रोगी रही हूं। धीरे-धीरे बीमारी से तो उबर गई, परन्तु शरीर कमजोर ही रहा। हमेशा कोई-न-कोई शिकायत बनी ही रहती। इस कृश काया को शीशे में देखने का मोह कभी हुआ ही नहीं ! रही बात आंखों की, सो उनमें क्या विशेषता है ? तुम्हारी आंखें भूरी हैं तो मेरी काली ! अपनी आंखों से जो तुम देख सकती हो, उससे अलग मेरी काली आंखें और कुछ नहीं देखतीं।"

थोड़ी देर तक दुर्गा मेरी ओर देखती रही। फिर बोली :

"एक बात पूछूं ?"

"पूछो।"

"नाराज तो नहीं हो जाओगी ? वरना कहोगी कि पहली ही बार मिली और..."

मैं खुलकर हंस पड़ी। बोली :

"और पहली ही भेंट में मैं भी तो 'आप' से 'तुम' पर उतर आई हूं।"

"अपनी साड़ियां दिखाओ।"

"वे क्या दिखाने लायक है दुर्गाबहन ?" मेरी आवाज में ढेर-सा संकोच उमड़ आया।

वह जिद करने लगी :

"फिर भी दिखाओ।"

हंसते हुए मैंने पूछा :

"तुमने जनाबाई का नाम सुना है ?"

"हां, वही न, नामदेव वाली ?"

"हां, वही।" उठते हुए मैं बोली, "बैठो, उसी की गाथा है मेरे पास। निकाल लाती हूं।"

नामदेव की गाथा ऊपर वाले ताकी से निकाली। शीघ्रता से जनाबाई वाले पृष्ठ पर उंगली रखते हुए पूछा :

"समय है न तुम्हारे पास ?"

"बहुतेरा।"

"जनाबाई की कथा तो तुम्हें मालूम ही होगी। वह नामदेव महाराज के यहां दासी थी। नामदेव भी कोई बहुत धनवान न थे। बस एक साधारण दर्जी थे। गृहस्थी की ओर जरा भी ध्यान नहीं था। उनकी पत्नी तथा मां ने भी उनकी निंदा की, उन्हें निकम्मा बताया। फिर भला उन्हें धनवान कौन कहेगा? घर में सदस्य भी बहुत सारे। बूढ़े माता-पिता, पत्नी, चार सयाने पुत्र, उनकी बहुएं, और अपनी बेटियां। ऐसा भरा-पूरा घर जैसे जवार का भुट्टा और उस घर में काम करती थी जनाबाई।"

"मुझे उसका नाम मालूम है। आगे बोलो।"

मैंने आंखें बंद कर लीं। मन भारी हो आया। कहा :

"वह क्या पहनती होगी? इसकी कल्पना तुम कर सकती हो? उसकी साड़ियों को तो तुमने छुआ भी न होता। पंद्रह दिनों में, या फिर कभी-कभी महीने में एक बार ही बालों को ठीक से धोने का अवसर उसे मिल पाता। सिर में तेल का अभाव तो सदैव का था। पौ फटने से पहले ही जो वह काम में जुट जाती तो रात-गए छुट्टी पाती। अपार कष्टों से शरीर थक जाता। पके फोड़े-सा दुखता। परन्तु काम से छुटकारा नहीं। कोई और चारा भी नहीं। चक्की पीसना, कपड़े धोना, बर्तन मांजना और इसके अलावा जंगल से कंडे बीन लाना। कितना काम! जंगल में, धूप में घूमते हुए पैरों में कांटे भी चुभे होंगे। कड़ी धूप में जब कांटा चुभा होगा, तो वहीं, तपती जमीन पर वह धप्प से बैठी होगी। दूसरे कांटे से, चुभा कांटा निकालने का प्रयत्न करती होगी। कितनी वेदनाएं सहीं होंगी उसने! परन्तु इन वेदनाओं का उसकी रचनाओं में कहीं भी उल्लेख नहीं है। अपने वस्त्रों-आभूषणों के अभावों के बारे में उसने कहीं भी, कुछ नहीं लिखा और न ही तपती धूप और कांटों के विषय में कुछ कहा। उसने तो लिखा है मात्र कृतज्ञता के बारे में। 'वह' सांवला श्रीहरि सदैव उसके साथ रहा है, इस भावना का प्रत्यय उसके काव्य में हर जगह दिखाई देता है। वह लिखती है, सुनो दुर्गाबहन :

'एक बार खाली पेट, भूखी-प्यासी वह चंद्रभागा नदी के तीर कपड़े धोने गई थी। कपड़े धोते-धोते अचानक उसे आभास हुआ कि 'वह' आया है। दोनों हाथ अपनी कटि पर रक्खे। पूछ रहा है कि अकेली क्यों आ गई। साथ आने के लिए मुझे आवाज क्यों नहीं दी? जनाबाई बार-बार विनती करती हुई उससे कह रही थी कि तुम यहां क्यों चले आए? जाओ अपने मंदिर में! भक्तगण वहां तुम्हारी राह देखते होंगे। 'उस' ने जवाब दिया, भक्तों की बात रहने दो। और फिर वह अपने चारों हाथों से कपड़े धोने लगा।'

"जनाबाई ने अपने माता-पिता को कभी देखा, याद नहीं। फिर व्यथित होने पर अपना दुख वह किससे कहे? पता है? वह सारी व्यथा उस अशरण-शरण की झोली में उड़ेलती। वह 'उससे' कहती, अब तो सिर की खुजली सही नहीं जाती रे! यह लज्जास्पद बात तुम्हारे अलावा और किससे कहूं? तुम्हारा ही आसरा! तुम्हारे अलावा तो मेरा दूसरा कोई सखा-संबंधी भी नहीं। कोई आप्त स्वजन नहीं।

"फिर 'वह' उसके पास आया। नारी रूप धारण किया। उसे नहलाया-धुलाया। उसकी पीठ को मला और बोला, 'जना, कितना मैल निकल रहा है? इसका तो एक पहाड़ बनेगा!"

"मेरे कहने का आशय मात्र इतना है कि वस्त्रों-आभूषणों का कोई महत्व नहीं। जनाबाई क्या पहनती थी, हमें पता नहीं। हम तो परिचित हैं उसके नाम से। उसकी निर्भयता से। उसकी अनन्यता से। हमें तो पता इस बात का है कि जो योगियों की घोर तपस्या की ओर ध्यान दिए बगैर उस पार निकल जाता है 'उसे' जनाबाई ने अपना परम सखा माना। 'वह' पुरुष है, जनाबाई 'स्त्री' है। फिर भी भक्ति की एक ऐसी धुन सवार है कि स्त्रीत्व-पुरुषत्व का भाव योजनों दूर रह गया है।

"जनाबाई का एक अभंग बड़ा ही निस्संग है दुर्गाबहन। अभी उसका अर्थ बताती हूं।"

दुर्गा चुपचाप बैठी रही। अंत में वह अभंग मिल गया। मैंने कहा :

"तुम सोचती होगी कि जनाबाई इतनी निर्लज्ज क्यों थी! दासी हुई तो क्या हुआ! स्त्री होने के कारण लाज तो होनी चाहिए। परन्तु दुर्गा, यह लाज, शर्म हमारे-तुम्हारे लिए है। वह तो सामान्य से ऊंची उठ गई थी। जन-रीतियों को पार कर गई थी। जो कहती है, माथे का आंचल

कंधों पर रखकर मैं भरे बाजार में चली जाऊंगी । उसे कोई संकोच नहीं । वह कहती है :

"एक रात सबके सो जाने पर वह भी एक टाट पर लेट गई । जगह शायद ओसारे में थी, जहां रात के समय नामदेव महाराज की गाय बंधती थी । जनाबाई की आंखें लगी ही थीं कि 'वह' आ गया । कानों में कुछ मधुर बोल बोलने लगा । कस्तूरी की सुगंध से सारा वातावरण महक गया । बोलते-बोलते 'वह' उसके पास लेट गया । फिर कुछ देर बाद उसके शरीर पर हाथ रखकर सो गया । जनाबाई ने उसे वैसे ही सोने दिया । उस समय जनाबाई 'वह' बन गई । जागती रही । भोर होते ही जनाबाई ने 'उसे' जगाया और मंदिर भेज दिया ।"

मैंने गाथा बंद कर दी । शाम हो गई थी । हम दोनों चुपचाप बैठे रहे । इतने में मां ने रसोई से झांका । कहा :

"आप बैठिए । थोड़ा पानी पीकर जाइए ।"

कुछ देर बाद मां गुड़ में बना सत्तू दो कटोरों में ले आईं । सामने रखते हुए बोलीं :

"लीजिए । नुकसान नहीं करेगा ।"

दुर्गा ने कटोरा हाथ में ले लिया । फिर खाते-खाते बोली :

"चाचीजी, कई बार मन पर अकारण ही भारी बोझ-सा महसूस होता है । प्रयत्न करने से भी दूर नहीं हो पाता । यदि हिम्मत करके उसे फेंक दूं तो बहुत ही हल्का प्रतीत होता है ।"

मां की समझ में कुछ न आया । परन्तु मैं सब समझ गई । सत्तू खाने के बाद दुर्गा ने लाख मना करने पर भी अपना कटोरा स्वयं धोया, फिर कुछ रुककर बोली :

"बचपन में आपको देखा था और इसे भी । मनु के पिता तो सीधी लीक में चलने वाले व्यक्ति थे । अकारण कभी भी बंगले नहीं आए । हम इजारदारों की संतानें ! मालकिन ! मास्टर की पत्नी और लड़की से कैसे बोलें ? फिर पढ़ने नागपुर चली गई । वहां धनतोली में रहते थे हम । यहां गांव-खेड़े में इजारदार की शान । वहां भला कौन पूछता ? अहंकार कुछ कम हुआ । परन्तु ग्रंथ-पोथियों से कोई लगाव नहीं रहा । लगा, इन

पोथियों में वही घिसा-पिटा पुराना राग होगा । यदि कोई पढ़ता तो सुनने की इच्छा तक न होती ।"

दुर्गा थोड़ा हंसी । बात जारी रखी :

"कल इसे पोथी पढ़ते देखा । लगा, यह वही पुराने किस्से पढ़ेगी कि रावण के दस सिर थे, ताड़का पचास हाथ ऊंची थी..." अपनी ही बात पर पुनः हंस पड़ी वह । आगे बोली,

"फटे-पुराने कपड़े पहने, दुबली-पतली, मेरी ही उम्र की लड़की भला दूसरा क्या पढ़ेगी ?"

फिर कुछ गंभीर हो गई । कहने लगी ।

"हमारी काकीजी, वही जो मुझे यहां लाईं, मुझसे बहुत स्नेह करती हैं; असीम प्यार है उन्हें मुझसे । रात उन्हीं के पास सोई थी । बहुत देर तक उनकी बातें सुनती रही । उन्होंने समझाया कि जो ऊपर से दीखता है, वह सत्य नहीं है । अंदर से कुछ और ही होता है । यों ही देखने से तो राख का ढेर ही दीखता है, परन्तु छूने पर, हाथ में लेने पर, ही पता लगता है उसके अंदर दबे अंगार का, जो सारे विश्व को जला देने की क्षमता रखता है ।"

अचानक वह उठकर मेरे पास आई और बांह थामकर पूछने लगी :

"मेरे कमरे में चलोगी ?"

मैं कुछ नहीं बोली ।

"बोलो । वह मात्र मेरा कमरा है । वहां किसी दूसरे का कुछ भी नहीं ।"

"आऊंगी, किसी दिन ।"

"रोज़ क्यों नहीं ?"

"वह...वह अच्छा न लगेगा ।"

वह गुस्से से बोली :

"किसेऽऽ ?"

मैंने हंसकर कहा :

"किसी और की बात नहीं कह रही थी । मुझे ही । बस, अब तो हो गया ?"

मेरा हाथ छोड़ दिया उसने। बोली :

"पाठ-कीर्तन करती हो तो क्या हुआ ? तुम भी मान-अपमान नहीं भूल सकतीं।"

"ऐसा तो मैंने कभी नहीं कहा। मैं तो बस इतना जानती हूं कि पाये में जड़े पत्थर को मंदिर का शिखर बनने की आस नहीं करनी चाहिए।"

इस पर दुर्गा मौन रही। मां से कहा, "अच्छा चलती हूं।" और चली गई।

हमेशा की तरह चार दिन पठन बंद रहा। पांचवें दिन बंगले पहुंची तो काकी बोलीं :

"यदि भगवान से भेंट हो जाए, तो पूछूंगी..."

"क्या ?"

"अरे दुष्ट, औरतों के पीछे यह तुमने क्या लगा दिया ?"

तभी दुर्गा ने कहा :

"हमारी काकीजी भी जनाबाई जैसी हैं !"

"कैसे ?" काकीजी ने पूछा।

"उस दिन मनु बता रही थी कि जनाबाई भी ईश्वर को कोसती थी, भला-बुरा कहती थी।"

मैंने हंसकर कहा :

"उसके लिए आंतरिक बल की आवश्कयता होती है। हमें ईश्वर का डर है। काकीजी को नहीं। वह उनका मित्र..."

काकीजी ने बीच में ही बात काट कर कहा :

"न रे, मित्र नहीं ! सगा-संबंधी है। इसीलिए कोसती हूं।"

प्रवचन समाप्त कर मैं निकल पड़ी। दुर्गा ने मुझे रोककर पूछा :

"वो, 'एक दिन' कब आने वाला है ?"

थोड़ा रुककर मैं बोली :

"चलो, अभी चलती हूं।"

मेरा हाथ पकड़कर वह मुझे अपने कमरे में ले गई। दरवाजा बंद कर दिया। कमरे में एक बड़ी ही सुन्दर मेज थी। उस पर बिछे बड़े से रूमाल पर अत्यंत सुन्दर कढ़ाई की हुई थी। मुझे उसने पलंग पर बिठाया। मैंने पूछा :

"यह किसने काढ़ा ?"

"तुम पहचानो !"

"तुमने ?"

"क्यों विश्वास नहीं होता ?"

मैं उठकर मेज के पास गई। बहुत सुन्दर, आकर्षक कढ़ाई थी। उसमें जो मोर बना था, उसके पंख तो बिलकुल असली पंखों से लग रहे थे। मैंने उसे हाथ में लेते हुए कहा :

"बहुत सुन्दर है तुम्हारे हाथ की कढ़ाई।"

शर्माते हुए वह बोली :

"यह तो अत्यंत प्रिय रूमाल है।"

"किसका ?"

"इसे देखकर ही तो पसंद किया। चित्रकार हैं न ?"

फिर स्वयं बात पलट दी :

"तुम्हें कुछ देने की इच्छा है।"

"क्या ?"

बक्सा खोलकर उसने रंगीन टुकड़ों को जोड़कर बनाया हुआ एक बड़ा-सा कपड़ा निकाला। उस पर एक नर्तक बना था। तल्लीनता से मृदंग बजाता नर्तक। एक पैर उठा हुआ। नृत्य में इतना मगन कि हवा में लहराते साफे से भी पूर्णतः बेखबर। तीखे-सुन्दर नाक-नक्श।

"बड़ा सुन्दर हो ! परन्तु इसका मैं क्या करूंगी ?" मैंने उसे निहारते हुए कहा।

"मेरी याद में ही इसे स्वीकार करो।"

कुछ देर दुर्गा इधर-उधर की बातें करती रही। फिर बोली :

"अपमान सहने के लिए भी हिम्मत जरूरी है न ?"

मैं कुछ समझ नहीं पाई। वह आगे बोली :

"देखती हूं, सहा जाता है या नहीं ?"

इतने में नौकरानी ने दरवाजा खोला। वह आम की बर्फी और पानी का लोटा लेकर आई थी। उसने वह मेज पर रख दिया। दुर्गा उससे

बोली, "जाते हुए दरवाजा बंद कर देना।" दुर्गा ने फिर बक्सा खोला। उसमें से कुछ निकालते हुई बोली :

"मुझसे तुम्हारी यह पुरानी, सौ जगहों पर सिली धोती नहीं देखी जाती।"

उसने हाथ में ली साड़ी खोलकर दिखाई। सुन्दर, पीले रंग की, सूती नागपुरी साड़ी थी। फिर उसे मेरे हाथ में रख दिया और पूछा :

"कैसी है?"

"अच्छी है।"

"तुम्हें पसंद आई?"

"क्यों नहीं? तुम्हारी जैसी गोरी लड़की पर खूब फबेगी।"

मैं उठी और साड़ी मेज पर रख दी। दुर्गा मेरी ओर घायल हिरनी-सी देखती रही। मैंने समझाते हुए कहा :

"देखो दुर्गा, तुम्हारे मन में मेरे प्रति जो अपार स्नेह है, क्या मैं उसे जानती नहीं! उसका मेरे लिए क्या मोल है, वह तुम शायद समझ न पाओ। मैंने यह नर्तक रख लिया है। परन्तु इस साड़ी को मैं स्वीकार नहीं करूंगी।"

"क्यों?"

"मुझ पर फबेगरी नहीं।"

"क्यों?"

"उसके अनेक कारण हैं। मुख्य बात तो यह है कि हम तुम्हारे आश्रित हैं और यह भुलाई न जा सकने वाली बात है। दूसरे..."

"तुम मेरी सहेली हो...गुरू हो।"

हंसकर मैंने कहा :

"फिर कल से तुम्हारे घर का परोसा खाना भी बंद कर देना होगा।"

"क्यों?"

"शिष्या के घर के भोजन पर पलती गुरू और सहेली किसी ने आज तक देखी है?"

"अब देख लेंगे!"

"मेरी बात सुनो, दुर्गा। इतनी महंगी साड़ी मुझे शोभा नहीं देगी। फटी गुदड़ी को सीने के लिए फटा-पुराना कपड़ा ही सुहाता है। कोई जरी, रेशम के टुकड़े का जोड़ नहीं लगाता। लोग भले ही सामने न हंसें, परन्तु पीठ-पीछे ठिठोली अवश्य होगी।"

"तुम्हें यह साड़ी लेनी ही होगी, वर्ना तुम्हारी-हमारी कट्टी!"

मैं उठी। उसके गले में बांह डालते हुए समझाया :

"मेरी यह अस्थिपंजर काया तो देख ही रही हो। तुम्हारी ये आंखें छोड़ कुछ भी नहीं..."

"किसकी आंखें? मेरी? वे तो बिल्ली की-सी हैं।"

"तुम्हें मेरी आंखें अच्छी लगती हैं न, इसीलिए 'तुम्हारी' कहा।"

"मुझे बनाओ मत..."

हंसते हुए मैंने कहा :

"अच्छा बाबा, मेरी आंखें। बस्स! अब यदि यह साड़ी पहन लूं और फिर इन आंखों को किसी ने पसंद ही कर लिया तो?"

"मैं तो कहूंगी...ए ऽ ऽ तुम मुझे मारोगी तो नहीं?"

"क्यों?"

"मैं कह रही थी कि तुम्हें ढेर सारे आभूषण और जरी की साड़ी पहनाकर तुम्हारा एक फोटो खिचवा लूं।"

"उससे क्या होगा?"

"लोग पूछेंगे...यह किस देश की राजकुमारी है?"

मैं गंभीर हो गई। बोली :

"संत ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'जो कुछ ईश्वर ने दिया है उसे ढक लो, आवरण में रखो।' और हमारा प्रयत्न है इस काया को संवारने का!"

पलभर मैं रुकी। फिर चलने की आज्ञा मांगी।

"तो फिर इसे नहीं लोगी?"

"तुम्हारे दिए इस नर्तक को ले जा रही हूं। 'ज्ञानेश्वरी' का ग्रंथ लपेटकर रखूंगी इसमें।"

"वह बात दूसरी है। पहले बताओ, साड़ी लोगी या नहीं?"

"यदि आवश्यकता हुई तो मांग लूंगी ।"
"कब ?"
"मैं भविष्य थोड़े ही जानती हूं ?"
मैं दरवाजे तक पहुंची तो दुर्गा बोली :
"तुम बहुत दुष्ट हो ।"
मैं वहीं ठिठक गई, दरवाजे को पकड़कर खड़ी रही ।
"तुम निष्ठुर भी हो ।"
"बस मुझे इतना ही आशीर्वाद दो दुर्गा कि जो मेरा नहीं है, उसे लेने की कभी इच्छा ही न हो ।"
मैं चल दी । दुर्गा ने वहीं से पुकारा :
"कल से मैं तुम्हारा प्रवचन सुनने नहीं आऊंगी ।"
"जैसी तुम्हारी इच्छा !"
घर पहुंचने पर मां ने पूछा :
"आज देर क्यों हो गई ?"
मैंने मां को सबकुछ बता दिया । डर था कि वे नाराज होंगी । उस समय तो मां कुछ न बोलीं, परन्तु रात मे जब उनके पास लेटी तब मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए वे बोलीं :
"आज मन हल्का हो गया, बेटी । स्वयं को महाराजिन समझ खाना बनाते समय मन अकुलाता था, परन्तु आज तुमने मुझे तार लिया । तुम चिंता मत करो । यदि दुर्गा ने मना भी किया होगा तो भी वह कल प्रवचन सुनने आएगी अवश्य ।"
मां की बात सच निकली ।

२२/

आज वर्षा की ठंडी फुहार ने मौसम बदल दिया । गर्मी का प्रकोप कुछ कम हो गया था । घर में मैं अकेली ही बैठी थी । नीम, बड़, पीपल आदि सभी वृक्षों के पत्ते झड़ गए थे । कुछ के झड़ने बाकी थे । कहीं-कहीं

नई कोपलें भी फूट रही थीं । इस समय आकाश स्वच्छ था । प्रकृति को चारों ओर दूर-दूर तक सरलता से देखा जा सकता था । उत्तर दिशा की पहाड़ियां स्पष्ट दिखाई दे रही थीं । सर्दियों में तो वे और भी अधिक साफ दिखाई देती थीं । उन पर उगे पेड़, छोटी-बड़ी चोटियां, पठार आदि सबकुछ स्पष्ट दिखाई देता था, मानो आवाज देकर बुला रहा हो। दौड़ जाने को मन करता । लगता, उड़ते हुए ऊंचे उठकर फिर उन हरे-भरे पेड़ों पर हल्के से उतरा जाए । वृक्षों के शिखरों को छूने का मन करता ।

कुछ देर बाद में बाहर आ खड़ी हुई । ध्यान आया, पतझड़ अभी खत्म नहीं हुआ है । बचे-खुचे पत्ते निरंतर गिरते ही चले जा रहे हैं । विरह का दुःख है । गिरे पत्ते अब फिर अपनी जगह कभी नहीं पा सकेंगे । कुछ एक पत्ते हवा के साथ उड़ते हुए आकाश की ओर ऊंचे उड़ेंगे । उन्हें ऐसा लगेगा कि वे अब आसमान का स्पर्श करने वाले हैं । वे तारों को चूमने की इच्छा भी रखते हैं । परन्तु क्या यह हो पाएगा ?

शनैः-शनैः हवा का जोर अपने आप कम पड़ता जाएगा । गति धीमी पड़ जाएगी । तब उन पत्तों को ध्यान आएगा कि वे नीचे की ओर गिरते चले जा रहे हैं । इस तरह नीचे आना बड़ा ही कष्टप्रद है। होश खो जाते हैं। जहां जन्म लिया था वह स्थान, पता नहीं, कहां खो गया ! कहां खो गया वह वृक्ष ? उसकी स्नेहिल डाली ? उस टहनी पर झूलते थे, एक-दूसरे के स्पर्श से रोमांचित हो उठते थे । एक-दूसरे से लिपट जाते थे। फिर अलग हो जाते थे । आंधी आने पर थरथरा जाते, कांपने लगते । फिर पूर्ववत हो जाते । हवा यदि कहीं घूमने निकल जाती तो समाधि का स्वांग रचाते । बीच-बीच में चुपके-से आंख खोलकर एक-दूसरे को देखते, फिर आंखें बंद कर लेते । हवा का झोंका यदि आए तो एक-दूसरे को इशारा करते ।

परन्तु हाय रे दुर्भाग्य ! जीवन का वह रस धीरे-धीरे सूखता गया। जीने का आनंद छटता गया । शरीर गहरा हरा रंग खोने लगा । कांति फीकी पड़ती गई । नसें कड़ी पड़ने लगीं । फिर भी ध्यान नहीं आया कि यह विरह-व्यथा का संकेत है । किसी भी क्षण यह बंधन टूट जाएगा।

असीम आक्रोश भी उसे न रोक पाएगा। जन्म-स्थल छोड़ना ही होगा। कहीं दूर निकल जाना होगा !

आज वह समय आ गया है। सभी पत्ते एक-एक कर नीचे गिरते चले आ रहे हैं। कुछ इस पल गिरे, तो अगले पल दूसरों की बारी ! डाली से जुड़ा स्नेह, प्रेम कम हो गया है। जीवन रस समाप्त हो गया है। यह अवस्था सभी के लिए अटल है। पलभर में सभी पत्ते गिर गए। डाली से टूट गए। अब वे कभी भी नहीं लौट पाएंगे, ऐसे वे विरही वृक्ष। विरहाग्नि में जलते पत्ते। लगता, शायद उनके मस्तक को स्नेह से छू लेने से उनका दुःख कम हो सकेगा। नए को जन्म देते समय होने वाली पीड़ा कुछ अंशों में सहनीय हो सकेगी।

मैं अकेली हूं। मेरी इस देह का, इस जीवन का, कोई उपयोग नहीं। एक तरह से यह जीवन निरर्थक ही है। कम-से-कम पेड़-पत्तों को दुलारने का काम तो हो।

एक शाम दुर्गा आई और आते ही पूछा :

"घूमने चलोगी ?"

"चलो।"

"सिर्फ हम तुम..."

"चलो।"

मां ने कहा भी कि आडकूजी या किसी और को साथ ले लो, लेकिन मैंने ही मना कर दिया।

"चलो, कहां चलना है ?" मैंने पूछा।

"नदी के किनारे-किनारे चलेंगे।"

"कहां तक ?"

"थक गए तो बैठ जाएंगे। अंधेरा होने लगेगा तो लौट आएंगे। बरसात के दिन हैं, इसलिए मां अकेली भेज नहीं रही थीं, लेकिन तुम्हारा नाम लिया तो अनुमति मिल गई।"

घर से बाहर निकले ही थे कि दुर्गा अचानक रुक गई। बोली :

"यह क्या ?"

"क्या ?"

"पैरों में कुछ नहीं ?"

"क्या पैरों में हमेशा कुछ पहनना आवश्यक है ? अब तो धूप भी नहीं कि तलुए जलने लगें।" हंसते हुए मैं बोली।

"फिर भी कुछ पहनलो। देखो, मैंने भी चप्पलें पहन रक्खी हैं।"

"तुम्हारी बात और है। तुम लाड़ली बेटी जो हो..."

हठ पर उतर आई दुर्गा। बोली :

"मैं कहती हूं, इसलिए पहनलो।"

अंत में मैंने उसकी पीठ पर हाथ रखकर कहा :

"दुर्गा, मेरी जो चप्पल है, वह टूट गई है। पहनने लायक नहीं रही।"

"लाओ, दिखाओ कहां है ?"

"उन्हें फेंक दिया। टूटी थी, सो रखना बेकार था।"

दुर्गा तुरंत मेरे घर में गई। मां से कुछ बातचीत की। फिर बाहर आकर मुझे घूरती हुई बोली :

"मुझसे झूठ बोला न ? इसका अर्थ यह कि तुम भी मेरे जैसी ही हो। कोई अलग नहीं।"

"क्यों ? आखिर ऐसी क्या बात हो गई ?"

"तुम्हारे पास चप्पल कभी थी ही नहीं। तुम्हारी माताजी ने मुझे बताया। अब मैं काकीजी से अवश्य कहूंगी कि मनु कोई बहुत ऊंची लड़की नहीं है। वह तो मेरे जैसी ही झूठ बोलने वाली सामान्य लड़की है।"

हंसी के मारे मेरे पेट में बल पड़ गए।

"हंसती क्यों हो ? जवाब दो अब !"

"जवाब ? यहीं दूं या जहां घूमने जाएंगे वहां...?"

"चाहे जहां दो। पर आज मैं तुम्हें छोड़ूंगी नहीं। जवाब देना ही होगा !"

हम दोनों बंगले के अहाते से बाहर निकल नदी के किनारे-किनारे चलते रहे। नदी प्रायः सूखी ही थी। गोलमटोल पत्थरों से भरी हुई।

एक जगह थोड़ा-सा पानी था। हरे रंग का मटमैला। पास ही में एक बगुला एक पैर उठाए खड़ा था।

"चलो, नदी के पाट पर बैठें, पत्थर पर।" मैंने कहा।

"चलो।" दुर्गा ने सहमति व्यक्त की।

वहीं एक जगह हम दोनों बैठ गए। पास ही में प्यारे-प्यारे फूलों से लदा कनेर का पेड़ था। दुर्गा नदी में छोटे-छोटे पत्थर यों ही फेंक रही थी। सूर्यास्त समीप था। सूरज की किरणें नदी की डगर पर फैल रही थीं। सफेद रंग के कुछ बादल रंगीन किनारी लिये आकाश में तैर रहे थे।

मैं होंठ भींचे, कुहनी घुटने पर टिकाए, मुट्ठी बंद करके, उन्हें गालों पर रखकर बैठी थी। मुझे जोर से झकझोरती दुर्गा बोली :

"अब बोलो...बोलो, झूठ क्यों बोलीं ?"

मैं थोड़ी देर चुप रही। फिर कहा :

"बात ऐसी है, दुर्गा..."

"मुझे बनाने की कोशिश न करना।"

"मैंने जो कुछ कहा वह गलत था, यह मैं मानती हूं, परन्तु वह झूठ भी कैसे...?"

"फिर इधर-उधर की बात ?"

"मेरी सुनो तो सही।"

"अच्छा, अब मुंह नहीं खोलूंगी।"

"बात यह है दुर्गा, कि सभी दृश्य घटनाओं के पीछे एक अदृश्य मानसिक दृष्टि होती है। जड़ दृश्य तो हम देख पाते हैं, परन्तु मानसिक..."

झूठी जमुहाई लेती दुर्गा बोली :

"मुझे तो नींद आने लगी है।"

"सरल शब्दों में समझाती हूं। मैं बचपन से ही तुम सभी लोगों को चप्पल पहनकर घूमते देखती आ रही हूं। सभी के पैरों में चप्पल देख मेरा मन भी चप्पल पहनने को करता था। अपने मन के लोक में मैंने ऐसी कितनी ही चप्पलें पहनीं, तोड़ीं। चप्पलें खरीदना तो तात्याजी की

ताकत से परे था। यह क्या मैं जानती नहीं थी ? इसलिए मन-ही-मन, मैंने कई महंगी, सुन्दर चप्पलें पहन डालीं।"

हंसते हुए मैंने आगे कहा :

"तुम कहोगी कि ये मन की बातें रहने दो। परन्तु ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है कि समस्त बातों का जन्म सबसे पहले मन में ही होता है। उसके बाद वे वाणी से प्रकट होती हैं और अन्त में हाथ-पैरों द्वारा कार्यान्वित होती हैं।"

अधीर होकर दुर्गा कुछ ऊंचे स्वर में बोली :

"ये मन की बातें अपने पास ही रहने दो। पहले बताओ कि झूठ बोला था या नहीं ?"

"झूठ का अर्थ समझती हो, दुर्गा ?"

"तुम ही समझा दो ?"

"झूठ तो वह है, जिसके बोलने से किसी दूसरे को क्षति पहुंचती हो।"

दुर्गा आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगी।

"यानी किसी का नुकसान न होता हो तो बेधड़क झूठ बोला जाय ?"

"बेधड़क झूठ बोलना तो आवश्यक नहीं, परन्तु और कोई चारा न हो तो थोड़ा-सा झूठ बोलने में कोई हर्ज नहीं।"

"समझ गई, तुम कितनी होशियार हो !"

"सुनो दुर्गा, भीष्म जब बाणों की सेज पर पड़े थे, तब युधिष्ठिर उनसे धर्म-चर्चा कर रहे थे। तब पितामह ने कहा था, 'यदि चुप रहने से काम बनता हो तो सर्वथा चुप ही रहो। परन्तु यदि मुंह खोलना आवश्यक ही हो, और यदि बोलने से किसी का किसी प्रकार का कोई नुकसान न होता हो तो थोड़ा-सा असत्य बोलने में कोई पाप नहीं।' धर्म का स्वरूप कुछ ऐसा ही उलझा-सा है।"

"धर्म के विषय में मुझसे कुछ न कहो। इतना स्वीकारो कि तुम भी मेरी तरह ही एक सामान्य, झूठ बोलने वाली, लड़की हो।"

"मैं असामान्य हूं, यह तुमसे किसने कहा ?"

दुर्गा कुछ गड़बड़ा गई। बोली :

"और जब तुम पाठ करने बैठती हो तो सभी तुम्हें प्रणाम करते हैं। और तो और वृद्धाएं भी..."

"ए ऽ ऽ पगली, वह नमस्कार क्या मुझे होता है ? वे तो व्यास-पीठ को प्रणाम करती हैं। जैसे महरी को पैसे देकर तुम लोग काम करवा लिया करती हो, ठीक वैसा ही मेरे बारे में भी है। दो जून की रोटी देकर मुझसे ज्ञानेश्वरी का पाठ सुनते हैं सब। बस ! इससे अधिक कुछ नहीं।"

दुर्गा आश्चर्य से देखती रही। मैंने बात आगे बढ़ाई :

"हम अपने घरों में होम-हवन करवाते हैं। पुरोहित को बुलवाते हैं। उससे ही पूजा-पाठ तथा हवन करवाते हैं। उस काम के लिए उसे पैसे देते हैं। धर्मशास्त्र में स्पष्ट रूप से लिखा है कि यज्ञ-कर्म चलाने के लिए हम उसे मोल लेते हैं।" कुछ देर रुककर मैं पुनः बोली :

"जो बताया उससे हटकर कुछ नहीं है, दुर्गा ! मुझे इस तरह आश्चर्य से मत देखो।"

"तो फिर कहो कि तुम भी मेरी तथा अन्य लड़कियों की तरह ही मामूली लड़की हो !"

"हां, दुर्गा, मैं भी तुम्हारी ही तरह एक मामूली लड़की हूं।"

"चलो, अच्छा हुआ ! मेरे मन से बड़ा-सा बोझ उतर गया।"

इतना कहकर दुर्गा ने मेरे घुटनों पर अपना सिर टिका दिया। चुप-चाप कुछ देर सोचती रही। फिर एकाएक बोली :

"न ! न ! तुम्हारे मेरे बीच कोई समानता नहीं। मेरा समाधान मात्र सतही है।"

"लगता है, फिर पीड़ा उभर आई..."

"फिर उस दिन साड़ी लेने से क्यों मना कर दिया ?"

"यदि मेरी जगह तुम होतीं, तो क्या ले लेतीं ?"

"बेखटके..."

"बिल्कुल नहीं ली होती। जीवन में निश्चय नाम की चीज बड़ा महत्व रखती है। यह तुम भी जानती हो। जिसके जीवन में निश्चय नहीं,

प्रतिज्ञा नहीं, उसका जीवन व्यर्थ है। यह तात्याजी से मिली सीख है, दुर्गा !" थोड़ा रुककर फिर मैंने कहा :

"मुझमें-तुममें कोई अन्तर नहीं है, दुर्गा। मैं तो शरीर से तुमसे भी दुर्बल हूं। अशक्त हूं ! तूफान क्या मात्र तुम्हारे ही मन में उठते हैं ? मेरे नहीं ?"

दुर्गा विस्मय से बोली :

"क्या कह रही हो ?"

"हां दुर्गा ! तुम्हारे मन से अधिक तीव्र तूफान मेरे मन में उमड़ते हैं। मैं कुछ अधिक भावुक हूं। तुरन्त मेरी आंखों में पानी तैर जाता है। भावुकता के कारण उसका वार कहीं अधिक तीव्रता से आघात करता है।"

"फिर ऐसे में तुम क्या करती हो ? मन चंचल होने पर..."

"अपने करने से क्या होता है ? कुछ नहीं ! मैं 'उस' की शरण में चली जाती हूं, जिसके चरणों में असंख्य जीव शरण पाते हैं। उसी के चरणों में स्वयं को डाल देती हूं, और कहती हूं, हे ईश्वर ! इस तिमिर का नाश करो, प्रकाश का संचार करो। जड़-बंधन, मोह-भवपाश तोड़ दो। मेरे हृदय में वास करो।"

इतने में हमें ढूंढता हुआ दुर्गा का नौकर आ गया। बोला :

"कहां हो दोनों ?"

दुर्गा ने जवाब दिया :

"वहीं ठहरो, हम आ रहे हैं।"

मेरा हाथ पकड़कर बोली :

"मनु, पहले जो कहा, वही सत्य है। मेरी-तुम्हारी कोई बराबरी नहीं। तुम महान हो।"

"ऐसा कहकर मुझे धकेल मत देना, हां ऽ ऽ !"

"नहीं, धकेलूंगी नहीं, परन्तु तुम्हारे साथ दौड़ने का प्रयत्न भी नहीं करूंगी। तुम्हारी गति तेज है। मेरे पैरों में उतनी सामर्थ्य नहीं।"

२३/

जीवेश्वरी के दर्शन कर हम सभी लौट रहे थे । दो बैलगाड़ियां थीं। मां भी साथ में थीं । मालकिन, उनकी मेहमान आदि दूसरी बैलगाड़ी में बैठे थे । एक मेहमान महिला ने दुर्गा को पुकारा :

"आओ न दुर्गा, हमारी गाड़ी में ।"

मालकिन बोलीं :

"वह भला हमारे साथ क्यों आने लगी ?"

"क्यों ? क्या मतलब ?"

"मनु उस गाड़ी में है न, इसलिए यह भी उसी में जाएगी ।"

"लगता है बिलकुल पक्की सहेलियां हैं ।"

"जी हां, बिलकुल पक्की ।"

दापोरे से मंदिर कोई दो-ढाई मील की दूरी पर था । लौटते समय शाम हो गई थी । हमारा गाड़ीवान बैलों को आरी लगा कर दौड़ा रहा था । बैल बेचारे लहू-लुहान हुए चले जा रहे थे । मुझसे यह देखा नहीं जा रहा था, सो मैंने आंखें बंद कर लीं । दुर्गा ने पूछा :

"क्या बात है ? तबियत ठीक नहीं है क्या ?"

"ठीक है ।"

"फिर आखें क्यों बन्द कर लीं ?"

मैंने बैलों की ओर संकेत किया। देखते ही वह गाड़ीवान को डांटने लगी । फिर थोड़ी देर बाद बोली :

"चलो, हम दोनों पैदल चलें ।"

हम दोनों गाड़ी से उतर पड़े । मालकिन ने हमारे साथ चलने के लिए एक नौकर भी गाड़ी से उतार दिया ।

आधे से अधिक आकाश मेघों से घिरा हुआ था । दूर कहीं वर्षा भी हुई थी । उस ओर से हवा के ठण्डे झोंके मिट्टी की सुगंध साथ ला रहे थे । सारा वातावरण उस मधुर गंध से भर गया था । मैं दीर्घ सांस ले उस सुगंध को अपने में अधिकाधिक भर लेने का प्रयत्न कर रही थी । अचानक

तात्याजी की स्मृति से मन उदास हो गया । इस मधुरगंध का आनन्द किस प्रकार लिया जाता है, यह उन्होंने मुझे समझाया था। कितनी ही बार उसका आनन्द हम दोनों ने ही लिया था । दुर्गा मुझसे आगे चल रही थी । कुछ कहने के लिए मुड़ी और मेरा चेहरा देखकर बोली :

"तुम्हें कुछ हो रहा है क्या, मनु ?"

मेरी आंखों में आंसू छलक आए । उन्हें पोंछते हुए मैंने कहा :

"कुछ नहीं ।"

"क्यों ? मुझे भी नहीं बताओगी ?"

"याद आ गई थी ।"

"किसकी ?"

"तात्याजी की ।"

दुर्गा ने मेरा हाथ थाम लिया । आवेग कुछ कम हुआ तो मैं बोली :

"दुर्गा, तात्याजी ने मेरे लिए बहुत-कुछ किया है। एक बार हम कहीं बाहर गए थे । अचानक ओले गिरने लगे । मुझे ओले अच्छे लगते हैं, इसलिए बहुत सारे ओले अपनी धोती में बांध लिये और लगभग दौड़ लगाते हम घर पहुंचे । सांस फूल गई थी । फिर भी जब मुझे कुछ ओले खिला दिये तब उन्हें चैन आया । और एक बार तो...

"कितनी ही यादें हैं । क्या-क्या कहूं ? मेरी प्रत्येक सांस में उनका स्मरण है । मेरा जो कुछ भी अच्छा है, वह उनका दिया हुआ है, और जो कुछ बुरा है, वह मात्र मेरा अपना है ।"

हम दोनों चुपचाप चलते रहे। फिर आकाश में इन्द्रधनुष दिखाई देने लगा । बहुत बड़ा-सा । सूरज बादलों की ओट से झांकता हुआ अस्त होने को था । जैसे जाते-जाते आकाश में मुक्त हस्त से रंगों को बिखेरता चला जाता हो । वह इन्द्रधनुष इतना निकट जान पड़ता था, जैसे उसे थामकर, उस पर चढ़कर हम आकाश में पहुंच जायेंगे ।

मन को मोहने वाली यह मधुरगंध, स्वप्निल दृश्य और उसी समय घर लौटते गाय-बैलों के गले में बंधे घुंघरुओं का मोहक स्वर ।

रोमांचित हो थरथराती मैं एक जगह खड़ी हो गई । बोकी,

"सुनती हो दुर्गा, इस गन्धवती पृथ्वी की गोद में संत ज्ञानेश्वर महा-

राज ने अपनी देह अर्पित की। इसी मिट्टी में अनेक महापुरुषों ने अपने शरीर विसर्जित कर दिए। श्रीहरि के कोमल चरणों को कमल समझ व्याध ने बाण मारा तो वह शरीर भी धरित्री का हो गया। ऐसी चिर भाग्य-वती है यह मिट्टी! इसी की मुक्ति के लिए इसके असंख्य पुत्रों ने हंस-हंसकर बलिदान किया। फांसी चढ़ गए, और इसी में मेरे तात्याजी भी चिर निद्रा ले रहे हैं।

"एक इच्छा है मन में दुर्गा, कि इस धरती को अपने आलिंगन में ले लूं। जब शरीर से प्राण निकल जाएंगे तो वह भी इसमें समा जाए। हम एक हो जाएं। इस निर्जीव शरीर की मुट्ठी भर राख गंगा में बहा देने से तो यही अच्छा है। प्राण रहते तथा प्राणों के जाते, इस धरती का आलिंगन कर सकूं, यही आकांक्षा है।"

दुर्गा मेरी ओर देखती रही। फिर बोली :

"काश! मेरे मन में भी ये भाव उठते!"

२४/

तात्याजी के बनाए कुछ चित्र दुर्गा ले गई थी। उन्हें लेने बंगले पहुंची तो पाया वह साज-श्रृंगार में व्यस्त है। बार-बार बाल संवारती, फिर बिखरा देती।

"आज इतना श्रृंगार! कोई विशेष बात है क्या?"

वह शर्मा गई। बोली :

"हम नहीं बताते!"

फिर पास आकर कान में फुसफुसाई :

"वे आए हैं न!"

फिर याद आया, काकीजी मां को इस बारे में कुछ बता रही थीं। दामाद दूर के रिश्ते के ही कोई हैं। विवाह तो कई दिन पूर्व तय हो गया था। उन्हें यहां आने का निमन्त्रण भी कई बार दिया था, पर संकोचवश वह नहीं आ पाए। बहुत अच्छे चित्रकार भी हैं।

दुर्गा ने बताया कि सुबह की गाड़ी से आए हैं। बैलगाड़ी लिवाने गई थी। अभी नहा रहे हैं। जिस काम से मैं आई थी, उसे बताए बिना ही लौट पड़ी। मेरा हाथ पकड़ लिया दुर्गा ने। कहा :

"जा रही हो?"

मैंने आहिस्ता से हाथ छुड़ाया। उत्तर दिया :

"बहुत सारा काम पड़ा है।"

"क्या देखकर यह नहीं बताओगी कि मेरी पसंद कैसी है?"

"और यदि फ़ेल कर दिया तो?"

"नहीं कर पाओगी! देखते ही..."

आगे कुछ बोल न पाई दुर्गा। लज्जा से लाल हो गई। मैंने कहा,

"भला तुम्हारी पसंद भी कभी गलत हो सकती है?"

"फिर अभी स्नान करके बाहर निकलेंगे, घूमने के लिए। देखोगी नहीं उन्हें?"

"अभी तो कुछ दिन ठहरेंगे न?"

"हां, यही कोई तीन-चार दिन। उनके बनाए चित्रों की प्रदर्शनी का कार्यक्रम था कहीं, उससे निपटकर, थकान मिटाने आए हैं।"

"फिर तो आराम से देखूंगी।"

"सच?"

"बिलकुल।"

"पक्का वादा?"

"एकदम पक्का वादा!"

भावी दामाद मेहमान बनकर आए थे। मा को बंगले पर जल्दी जाना था। मुझे बगीचे से फूल लाकर ठाकुरजी को चढ़ा देने की हिदायत देकर वे बंगले पर चली गईं।

मैंने तत्परता से कपड़े धोए और एक लम्बी, पतली लकड़ी लेकर चंपे के फूल तोड़ने आंगन में चली गई। ध्यान से पेड़ को देखा तो पता चला कि बहुत ऊंचाई पर कुछ फूल लगे हैं। पेड़ के चारों ओर घूमकर अनुमान लगाया कि फूल कैसे तोड़े जाएं?

अचानक सामने नजर पड़ी। संतरे के पेड़ तले खड़ा कोई एकटक

मुझे देख रहा था। उसकी एक उंगली में हीरे की अंगूठी थी, जिसकी चमक मुझ तक पहुंच रही थी। कद उसका ऊंचा था। नुकीली नाक तथा लंबे बाल। मैं ठिठक गई। जैसे-तैसे आठ-दस फूल चुने और तुरन्त लौट गई। पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। ठाकुरजी को फूल चढ़ाए और मीरा की भजनावली लेकर टाट पर जा बैठी। आंखें अवश्य अक्षरों पर घूम रही थीं, परन्तु एक भी अक्षर दिमाग में नहीं घुस रहा था।

ऐसा तो नहीं होना चाहिए। जिससे न जान न पहचान : जिसका अता-पता तक नहीं मालूम; जिसे आजतक कभी देखा नहीं, और उससे क्षणमात्र की दृष्टि-भेंट! मैं तो उसी पल भाग आई थी। फिर ऐसा क्यों? आज मीरा की भजनावली में भी मन नहीं लग रहा। आखिर ऐसा क्या हुआ?

होगा कोई। इजारदारों के यहां तो हजार कामों से हजार लोग आते-जाते हैं। जिसे मैं जानती ही नहीं, यदि उसने घूर भी लिया तो उसमें इतना विचलित होने की क्या बात है? अब मैं ध्यान से पढ़ने लगी। पूरे यत्न से मन को वश में किया।

इन समस्त प्रयत्नों ने मुझे थका दिया। नींद से पलकें बोझिल होने लगीं। मां के लौटने में अभी बहुत समय था। बोझिल आंखों से ही जैसे-तैसे पदावली पढ़ती रही।

इतने में आतुरता से पुकारती बायजी आ गईं। बोली :

"मनुबाय, ओ मनुबाय, कहां हो?"

"क्या है, बायजाबाई?"

"छोटी मालकिन ने आपको खाना खाने वहीं बुलाया है।"

"मैं नहीं आ सकूंगी। तबीयत ठीक नहीं है मेरी, बता देना।"

"क्या हुआ?"

"कुछ नहीं। बोल देना, सिर में दर्द है।"

उसके जाते ही मैं फिर लेट गई। मन में फिर वही तूफान। कब नींद आ गई, पता नहीं। अचानक आंख खुल गई।

हे भगवान, अब क्या करूं!

वही आदमी दरवाजे की चौखट पर हाथ धरे सामने खड़ा था।

बिजली की गति से उठी। भजनावली को छाती से लगा दीवार से सटकर खड़ी हो गई। नजर उठाने तक की शक्ति नहीं।

"घबराने की कोई बात नहीं,
मैं इजारदारों का दामाद हूं।
थोड़ी देर पहले आपको फूल तोड़ते देखा,
ऊपर पेड़ के शिखर को निहारती आंखें।
इतने सुंदर, कमल से नयन, पहले कभी देखे ही नहीं,
मैं चित्रकार हूं।
थोड़ी-सी सौंदर्य-दृष्टि है मेरे पास,
ये झील-सी सुंदर आंखें,
यदि इनका चित्र न बनाया तो मेरा मन मुझे कोसेगा।
एक प्रार्थना है—
चाहे उसे नम्र विनती समझें,
आप बस घंटा भर सामने बैठें।
मैं चित्र बना दूंगा।"

ये शब्द मेरा हृदय चीर गए। अन्तर्मन को तीव्रता से झकझोर गए। सबकुछ उलट-पुलट गया। जो रचा था, टूट गया। आजतक ऐसी विह्वलता कभी महसूस नहीं हुई थी। नेत्रों से अश्रुधार बहने लगी। एकबारगी अनवरत बहती आंखों से दरवाजे की ओर देखा और फिर अन्दर कमरे में भाग गई। सांस बेतरह फूल गई थी। यत्नपूर्वक उसे व्यवस्थित किया। घुटनों में सिर रखकर बहुत देर तक बैठी रही। कितना समय बीत गया, पता नहीं।

ध्यान आया तो बाहर के कमरे का अंदाजा किया। शायद वहां कोई नहीं था। उठकर झांका तो कोई दिखाई नहीं दिया। फिर बाहर आंगन में झांककर देखा तो वहां भी किसी को नहीं पाया। ओसारा खाली पड़ा था। नीम का झाड़ अपनी मस्ती में झूम रहा था। आसमान में बादल छाए थे। उन मेघों की धाराएं सीधे मेरी आंखों में उतर आईं।

क्यों मुझे एकटक निहारा?

क्या अधिकार था आपको ऐसा करने का?

होंगी मेरी आंखें झील-सी । परन्तु आपने किस अधिकार से ऐसा कहा ?

अरे, आप तो किसी के भावी पति हैं !

उसका मन आपके प्रति समर्पित है !

फिर आपकी नजर पराई आंखों तक कैसे पहुंची ?

जो आपकी नहीं, जो भूलकर भी आपकी राह में खड़ी नहीं रहेगी, उसे आपने इस तरह निहारा ही क्यों ?

श्रीहरि के इस विश्व में अनेक सौंदर्य स्थल हैं । उन्हें छोड़ इन अनजान आंखों में ऐसा क्या अपूर्व पाया ? और दुःख की बात तो यह कि उसे प्रकट करने का साहस कैसे हुआ ?

कैसे हुआ यह साहस ?

बहुत ग्लानि हो आई । उमड़ते आक्रोश को बड़ी मुश्किल से दबाया । फिर ध्यान आया कि मैं पितृहीन हूं, और संभवतः इस धृष्टता का यही कारण हो ।

मैं पितृहीन,

पिता की छत्रछाया से वंचित ।

तात्याजी मुझे छोड़ गए ।

आश्रयहीन कर गए ।

यदि पिता की छत्रछाया सिर पर होती तो क्या आपकी हिम्मत होती ?

होंगे आप अमीर-धनवान् ।

हाथ में हीरे की अंगूठी !

आपकी तीखी नाक ।

पुरुषत्व से परिपूर्ण रूप ।

परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि आप किसी अनाथ-अबला का अपमान करें ? आपमें निहित समस्त गुणों की स्वामिनी तो कोई और है--

फिर भी आप निस्संग होकर मेरे सम्मुख क्यों खड़े हुए ?

और भी न जाने ऐसी कितनी बातें मन में उमड़ पड़ीं । आंसू अविरल बहने लगे । मस्तिष्क में जनाबाई का अभंग कौंध गया :

"रे हरि, मैं तो तुम्हारी ही हूं, मुझे अपने से दूर न करना । तुम्हारे बिना मेरी रक्षा कौन करेगा ?"

अरे, यह पहले क्यों नहीं सूझा ?

"हे प्रभो, तुम्हारे सिवा और कौन है मेरा ? कोई नहीं, तुम्हारे सिवा ।"

क्रंदन करती जनाबाई जिसकी शरण में गई, मुझे भी उसी की शरण में जाना था ! !

उसकी शरण में जाने की बात पहले क्यों नहीं याद आई । अन्तिम भेंट में बाबा ने कहा था :

"उसी की हो जाओ बेटी ! उसके हो जाने में ही एक अपूर्व अलौकिक आनंद है ।"

मैं भी कितनी पागल हूं ? व्यर्थ की चिन्ताओं में उलझ गई । 'उस' विराट की चादर को ओढ़ लेना था । उसका छत्र मस्तक पर धारण करना था । उस कल्पवृक्ष की छाया का आसरा लेना था । उससे क्या होता ? क्या अपमान से बच जाती ? किसी ने ऐसा प्रश्न नहीं पूछा होता? अपमान तो अवश्य किया होता । हजारों प्रश्नों की झड़ी भी लगा दी होती ! परन्तु उस छत्रछाया में अपूर्व सहन शक्ति प्राप्त हो जाती । अपमान के बाण इस कदर गहरे न पैठते ।

उस दिन ज्ञानेश्वरी का पाठ नहीं हुआ । शाम ढले काकीजी हाल पूछने आई थीं । बोली :

"सिर दर्द क्यों हुआ बेटी ?"

"कुछ नहीं, बस यूं ही सिर भारी हो गया था ।" हंसते हुए मैंने उत्तर दिया ।

"बेटी, घर में भी आज मेहमानों का तांता लगा रहा । कहीं पहाड़ों में शिकार खेलने जाना था । दिनभर खाना-पीना, आना-जाना होता रहा, और दुर्गा का पैर तो आज ठिकाने ही नहीं था ।"

"यह तो स्वाभाविक ही है काकीजी। मन्नतों से घर आया अनोखा मेहमान !"

"तुमने दूल्हे को देखा कि नहीं ? नौटंकी वालों की तरह बाल-वाल बढ़ा लिए हैं उसने, परन्तु रूप सरस है। हमारी दुर्गा ही कुछ फीकी पड़ती है उसके सामने।"

मैंने कुशलता से बात टाल दी। कह दिया :

"प्रवचन तो काकीजी कई बार बंद रहता है। समझिए वैसे ही आज भी।"

क्षणभर रुकीं काकीजी, फिर बोली :

"तुम्हारी उम्र कितनी हो गई है, मनु ?"

मैं कुछ घबरा-सी गई। चेहरा खिड़की की ओर मोड़कर अटकते हुए जवाब दिया,

कुछ ठीक से याद नहीं।"

इतने में मां दरवाजे पर आ खड़ी हुईं। बोली :

"प्रवचन करते समय सबकुछ ठीक से याद आता है। फिर उम्र का विस्मरण कैसे, मनु बेटी ? मैं बताती हूं, काकीजी। यह दुर्गा की हमउम्र ही होगी। एकाध बरस आगे-पीछे। हमलोग दापोरे आए तो गोद में थी। अब कितने बरस हुए होंगे ?"

"अरे, तब तो इसकी भी शादी की उमर हो गई !"

मैं उठकर ओसारे में चली गई।

रात में मीरा की भजनावली लेकर लेटी थी। मां का काम भी निबट गया था। नित्य नियमानुसार हमने ध्यान-धारणा की। फिर मैं मां के अंक में सोने का प्रयत्न करने लगी। थोड़ी देर बाद ऐसा लगा कि मां रो रही हैं।

मैंने अपने पल्लू से उनकी आंखें पोंछ डालीं। भर्राये स्वर में मां बोली :

"मनु बेटी, आज 'उन्हें' होना था। कम-से-कम तुम्हारे लिए तो होना ही था।"

मन भर आया। स्वर की कातरता को संयत कर मैंने कहा :

"दुःख क्यों करती हो मां ? जो हमारे भाग्य में बदा ही नहीं, उसे 'वह' कैसे दे दे ? हम ईश्वर से भी कैसे नाराज हो सकते हैं ?"

"इस सत्य से मैंने कब मुंह मोड़ा है, बेटी ? मैं भरसक प्रयत्न भी तो करती हूं। पर...पर..."

"जो अपने बस में नहीं, उसकी चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए, मां !"

"'चिन्ता मत करो' कह देने भर से यदि काम बन जाता, मनु बेटी, तो सारा जग कितना सुखी होता ! तुम्हें क्या पता कि इन दिनों मेरे मन में कितनी उथल-पुथल मच रही है !"

मैं उठ बैठी। बोली :

"कुछ सुनाऊं, मां, ! जिससे तुम शान्ति से सो सको।"

मां कुछ नहीं बोली, चुपचाप लेटी रहीं। मैंने भजनावली खोली और जो पद सामने आया, उसे गाकर सुनाने लगी:

"पग घुंघरू बांध मीरा नाची री।
लोग कहें मीरा हो गई बावरी,
बाप कहे कुलनासी री॥"

मीरा की अथाह व्यथा। किस प्रकार पैरों में घुंघरू बांध 'उस' के रूप में खोने का प्रयास करती रही वह ! क्या-क्या नहीं सहा उसने ? कितनी अवहेलना की उसकी समाज ने ?

न जाने कितने गीत पढ़ डाले। कठिन शब्दों के अर्थ तात्याजी ने वहीं लिख दिये थे, इसलिए भावार्थ समझना अधिक सरल हो गया।

मां बेचारी अत्यधिक थकान के कारण सो गईं। मैं पढ़ती ही रही। यदि पलभर के लिए मन विचलित भी हो जाता तो यत्नपूर्वक एकाग्र करती। मीरा की व्यक्त व्यथा, बेलों से बने जालों-सी थी। उस जाले में स्वयं को झोंक दिया,

"नंदनंदन दिठ पड़िया माई सांवरो।"

माई री, आज मुझे कंकण धारण किया सांवला नंदनंदन दिखाई दिखा !

मस्तक पर मोर मुकुट ! कंठ में वैजयंती माला ! विश्वमोहिनी मुद्रा। सांवरी मुद्रा ! लंबोत्तरी ! तीखी नाक ! हाथ में हीरे की अंगूठी !

छी:, वह तो किसी दूसरे का है। मेरा नहीं। यत्नपूर्वक उस रूप को स्मृति से अलग किया। फिर मीरा की व्यथा में खो गई। उसका आंचल पकड़ पीछे-पीछे दौड़ने लगी।

अब मीरा ने दृढ़ निश्चय प्रकट किया :

"म्हारे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।"

आप इस शरीर का कुछ भी कर सकते हैं, परन्तु मन तो मेरा अपना है। उसे आप छू भी नहीं सकेंगे। मन-ही-मन मैंने कितने ही जन्मों से 'उसे' ही वरा है। मैं 'उसकी' ही हूं !

मीरा ने अब एक और व्यथा प्रकट की। यह मन तो 'गिरिधर' का है। परन्तु शारीरिक उपचारों का मोचन कैसे हो ! शरीर की क्षुधा-तृष्णा कैसे सहूं ? वह जो निरंतर पास है, इसका अनुभव क्यों नहीं होता ? उसका स्पर्श मात्र भी क्यों नहीं जान पड़ता ? उसका हाथ मेरे थके-मांदे शरीर को स्नेह से, प्रेम से, क्यों नहीं दुलारता ?

"सखी मोरी नींद नसानी हो।"

सखी, अब तो मुझे नींद भी नहीं आती। यह बिरह-दाह अब सहा नहीं जाता।

"कौन संग खेलूं होरी,
पिया तजि गए हैं अकेली।"

होली का त्यौहार है। सभी रंगभरी पिचकारियों से अपने प्रियजनों को रंग में सराबोर कर रहे हैं। परन्तु 'वह' नहीं आया। मैं कैसे होली खेल लूं ?

"नींद न आवै रमैया बिन नींद न आवै,
बिरहा सतावै। प्रेम की आग जलावै॥"

मेरे चारों ओर तो सुख-सुविधाओं का अंबार लगा है। परन्तु जब 'वही' मेरे पास नहीं, तो इस सबका मैं क्या करूंगी ? राज-विलास मेरे लिए व्यर्थ है !

मीरा का प्रत्येक शब्द सुनहरे विष में डूबा है। वह प्रत्येक शब्द जैसे पुस्तक से अपना स्थान छोड़ मेरे घर को आलोकित कर रहा है। कैसा आश्चर्य ! मेरा घर, मेरा विश्व उस तेज में नहा रहा है।

मैं प्रेम की अग्नि में जल रही हूं। बिरहा मुझे सता रहा है, छल रहा है। मैं तो सो भी नहीं सकती :

"बिन पिया ज्योत मंदिर अंधियारो। दीपक दाय न आवै।
पिया बिन मोरी सेज अलूणी। जागत रैन बिहावै।
पिया कब आवै।"

अरी सखियो ! बुझा दो वे इत्र दीप। मुझे उसके उजियारे से क्या लेना-देना ! जिसके अस्तित्व मात्र से चंद्र-सूर्य-तारे, दीपक बन समूचा गगन-मंडल आलोकित करते हैं। यदि वह मुझसे रूठ गया है तो इस प्रकाश का मैं क्या करूंगी ? 'उसके' बिना तो यह फूलों की सेज अंगारे-सी दहकती लग रही है। कांटों-सी चुभ रही है।

"दादुर मोर पपीहा बोले। कोयल शब्द सुणावै।
घुमड़ घटा ऊलर होई आवै। दामिन दमक डरावै।
नैन झर लावै।"

चक्रवाक के बोल, कोकिल का पंचम स्वर, मेघों की गर्जना, बिजली की कौंध, यदि इनमें से कोई भी 'उसके' आगमन की सूचना न देता हो तो मैं उनको अपने हृदय में स्थान कैसे दे दूं ? नयनों का निर्झर तो किसी भी उपाय से रुक नहीं रहा है !

"को है सखि मोरी सजनी। पियको आन मिलावै।
मीरा के प्रभु कबर मिलोगे। मन मोहन मोहि भावै॥"

अरी, यों चिंतातुर हो मेरे चारों ओर क्यों एकत्र हो गई हो ? तुममें से कोई जाकर, उसे बुला क्यों नहीं लाती? उसे मेरा संदेशा देना कि जिस पर मेरे प्राण न्योछावर हैं, 'वह' मुझे कब आकर मिलेगा ?

मीरा की पदावली पढ़ते-पढ़ते मैं इतनी विह्वल हो गई कि आगे पढ़ पाना मेरे लिए असंभव हो गया। जो ज़हर पी मीरा अमर हो गई, उसे मैं प्राशन क्यों नहीं कर पा रही हूं ? इस व्यथा से मन आकुल हो गया।

कब नींद आ गई पता ही नहीं चला। नींद खुली तो कहीं से दो बजने की टन-टन सुनाई दी। धीरे-से उठी, चुपचाप दरवाजा खोला और आंगन में आ गई। बादलों क़ी ओर से झांकता क्षीण चन्द्रमा, शेष आकाश

जगमगाते तारों से परिपूर्ण । नीम के झोंके वातावरण में चेतना पैदा कर रहे थे ।

मीरा ने सत्य ही कहा ! यह सारा प्रकाश किसका है ? सूर्य ने किससे प्रकाश पाया ? चन्द्रमा की शीतलता कहां से आई ? अग्नि ने आलोक कहां से पाया ? कौन है वह, जिसने इन सबको चेतनामय किया ? कैसा होगा वह विराट पुरुष ? कितना असीम ? कितना अमर्याद ? जिसने इस विश्व का निर्माण किया, वह कैसा बलशाली होगा ? और आश्चर्य यह कि मीरा ने उसके साथ परिणय किया, पाणिग्रहण किया ! वह असत्य क्यों कहेगी ? संत ज्ञानेश्वर ने भी तो कहा है, "आंखों ने देखने का काम छोड़ उस श्रीहरि को अपने में समाकर उसका दर्शन किया ।"

उस श्रीहरि ने तो संत तुकाराम को भी आलिंगन योग्य समझा ।

मैं भी वह सारा ओढ़ उसी की, उसी की छाया में बैठी रहूंगी । अपनी यह देह मैं उसी को सौंप दूंगी । मैं अपनी तुलना मीरा से करने का साहस कभी नहीं करूंगी । माना कि गरुड़ आकाश छूने की क्षमता रखता है । तो क्या हुआ ? क्या पखेरू उड़ने की चेष्टा भी न करे ? मैं अपने दुर्बल हाथों से ही 'उस' का आलिंगन करने का प्रयत्न करूंगी । यदि सफलता मिली तो जीवन सार्थक हो जायेगा । असफल हुई तो यही सोच कर संतोष करूंगी कि उस अमर्याद के संग दौड़ने के प्रयत्नों में पिछड़ गई । इसमें न तो दुःख है, न हानि ।

अंदर आकर बिस्तर पर बैठ गई । लालटेन की बत्ती तेज कर मां की ओर देखा । वह शांति से सो रही थीं । फिर भजनावली खोल ली ।

यह कैसा उजियारा छाया । इसने तो हर अंधेरा हर लिया । गरुड़-सी नाक, हीरे की अंगूठी, मान, अपमान, सारा-का-सारा जैसे धुल गया । अब मन कैसा हल्का-हल्का हो गया । सब रीत गया । लगा, इसी क्षण दौड़-कर दुर्गा के पास जाऊं । उससे मन की बात कहूं । पर कैसे कह पाऊंगी ? लज्जा नहीं आयेगी ?

फिर मन हुआ उसे साथ ले चित्रकार को जगाऊं । उनसे कहूं कि सुबह जो बात हुई, उसे भूल जाएं । अब तो मैं मान-अपमान के परे पहुंच गई हूं ।

कितना असीम सुख है यह ! आकाश मंडल को साक्षी मान मैंने उस 'दीनानाथ' को वर लिया है । सखी ने मुझे सजाया है, संवारा है । मेरे कानों में हौले से कहा है कि वरमाला पहनाते समय अपनी सुध-बुध मत खो बैठना ! फिर 'उसने' मेरी यह क्षीण हथेली अपने अति सुंदर, कोमल, कमल-से हाथों में थामी है । देह रोमांचित हो उठी है । मैं 'उसकी' हो गई न, इस पाणिग्रहण से ? इसीलिए ! जो चिर-सुहाग मैंने पाया है, वह तो अब कभी भी नहीं मिटेगा, जन्म-जन्मांतर तक भी नहीं । यह तो पूर्व-जन्म का संचित है, जो मुझे 'उस' गिरिधारी का बना गया ।

ओ, चित्रकार ! ये सब मैं तुम्हें कभी नहीं बताऊंगी । बिलकुल नहीं बताऊंगी । इस अपूर्व सुख को मैं स्वयं ही भोगने वाली हूं । अब तो बचा है निर्माल्य ! आप इस निर्माल्य के जितने चाहें, उतने चित्र बना सकते हैं ।

मैं निश्चिंत होकर सो गई । भोर में फिर कुछ अधूरी-सी जागी तो लगा, कोई हल्के-से मोर पंख फेर रहा है माथे पर । और मैं पुनः सो गई ।

मेरा तो सारा विश्व ही बदल गया ।

मैं तो स्वप्नों के सुख-दुःख में खोई थी । परन्तु अचानक जागी । तो पाया, जो कभी साल रहा था, अब उसका लवलेश भी नहीं । उठी, तो देखा सूरज आकाश में आ चुका था । मां तो पहले ही उठकर कामों में व्यस्त थीं । मैंने चादर को अपने बदन पर अच्छी तरह लपेटा और वहीं बैठे-बैठे मां को आवाज़ दी :

"मां, ओ ऽऽ मां ऽऽ !"

मेरे स्वर में छाए उल्लास को उन्होंने भांप लिया । बुहारना छोड़ आश्चर्य से बोलीं :

"क्या है, बेटी ?"

"इधर आओ न ! मुझे अपनी गोद में लो ?"

"रात भर नहीं थी क्या अंक में ?"

"फिर भी आओ न ! कुछ क्षण के लिए ।"

वह पास आ बैठीं । मैंने अपना सिर उनकी गोद में रख उन्हें भी चादर में लपेट लिया । मुझे सहलाती वे बोलीं :

"यह क्या बात हुई, बेटी ? मुझे तो आज भी जल्दी जाना है ।"

"जल्दी जाना है ? तो फिर उठो, मां।"

"तुम भी उठो, बेटी। क्या आज नींद पूरी नहीं हुई ?"

मैं उठी। बिस्तर लपेटकर रख दिया। मुंह धोया और आंगन में आ खड़ी हुई। देखा तो काले, बड़े-बड़े चींटों की एक पंक्ति चली आ रही है। आंगन के एक छोर से दूसरे छोर तक लंबी कतार। नीचे बैठकर कुछ गौर से देखा तो सारे चींटे अपनी मूंछें लड़ाकर एक दूसरे को टटोलते हुए चले जा रहे हैं। कोई रास्ता भूल भी जाता तो बाजू में घूमता रक्षक चींटा उसे कतार में ला छोड़ता।

इतने में चिड़ियों का एक झुंड आया। गोल चक्कर लगाकर वे सब नीम के पेड़ पर जा बैठीं। अपनी चोंच से शरीर साफ करने लगीं। वहीं आगे-पीछे फुदकती रहीं। फिर अचानक चहचाते हुए उड़ गईं। कुछ क्षण बाद डाली पर एक कौआ आकर बैठ गया। कर्कश आवाज निकालता, इधर-उधर गर्दन घुमाता हुआ थोड़ी देर बैठा रहा।

संत ज्ञानेश्वर ने तो कौवे से यहां तक कहा है :

"हे कौवे ! मैं तुम्हारे पैरों को सोने से मढ़वा दूंगा, यदि तुम इस बात का संकेत दे दो कि हमारे घर पंढरपुर के 'पंढरीराऊ' (श्रीहरि) कब पधार रहे हैं ?"

कितनी सुन्दर बात कह गए ज्ञानेश्वर ! वैसे तो 'कौवा' बोलने से, हमारी आंखों के समक्ष उसका श्यामल रूप तथा कानों में उसकी कर्कश 'कांव-कांव' ही उभर आती है। परन्तु महाराज ने उसे 'काऊ' कहकर कोमलता प्रदान कर दी। यही बात पंढरपुर मन्दिर में विराजे 'पंढरीराव' को 'पंढरीराऊ' कहकर पुकारने की है। इससे आंतरिक अंतर कम हुआ और 'पंढरीराव' हमारे अपने कोई वयोवृद्ध, सयाने लगने लगे।

दोपहर का खाना खाया। प्रवचन में अभी एक घंटा बाकी था, फिर भी निकल पड़ी। दुर्गा के कमरे में पहुंची। वह बिस्तर पर लेटी हुई थी। मुझे देखते ही झट से उठ बैठी। मुंह फुलाकर बोली :

"कल नहीं आई न ?"

हंसकर मैंने कहा :

"भई, कल हमसे मिलने की फुर्सत ही किसे थी !"

लजाती हुई दुर्गा बोली :

"जाओ भी !" फिर बोली, "तुमने देखा नहीं है उन्हें ?"

"योंही एक झलक..."

"अभी चलोगी ? पहचान करा दूंगी।" उसकी आवाज में उत्साह था।

"चलो।"

"अच्छा रुको। मैं चाय लेकर आती हूं।"

पांच मिनट में दुर्गा चाय की ट्रे ले आई। दो-तीन बरामदे पार कर हम दोनों एक बहुत बड़े कमरे के बाहर पहुंचे। हमारी फुसफुसाहट सुन अंदर से आवाज आई :

"कौन है ?"

दुर्गा के पीछे-पीछे मैं भी कमरे में गई। दीवार पर एक जगह जंगली भैंसे का शीश जड़ा था। उसके दोनों ओर बड़ी-बड़ी तस्वीरें सजी थीं। मेहमान पलंग पर लेटे थे। हमें देखते ही उठ बैठे।

तिपाई पर चाय रख दीवार से सटती हुई दुर्गा ने परिचय कराया :

"मेरी सहेली..."

मैंने स्थिर नेत्रों से उनकी ओर देखा। वे कुछ अचकचा गए। दुर्गा आगे बोली :

"मनोरमा खरे।"

मैंने उन्हें नमस्कार किया। वे मेरी नजरों का सामना न कर सके। नजरें चुराते हुए उन्होंने नमस्कार का जवाब दिया।

"यह केवल मेरी सहेली ही नहीं, मेरी गुरु, मेरी...मेरी..."

"फ्रेंड, गाइड एंड फिलॉसॉफर कहना चाहती हैं न आप ?"

"जी हां, वही..."

अब मेरी ओर देख अस्फुट स्वर में वे बोले :

"कल मुझसे..."

"उसे जाने दीजिए।" मैंने कहा, "कितने दिन ठहरेंगे ?"

"शायद दो-तीन दिन।"

"तो फिर हमारे घर आइए न। घर तो आपको मालूम ही है।

दुर्गाबहन के पिता ने आसरा दिया है। मां इनके घर रसोई बनाती हैं और मैं..."

मेरी बातें सुन दुर्गा एकदम गड़बड़ा गई। बीच में ही बोल पड़ी :

"चाय ठंडी हो रही है।"

"ले रहा हूं।"

"फिर कब आ रहे हैं ?" मैंने कहा, "मेरे पिता भी चित्रकार थे..."

"अच्छा ?"

"उनके बनाए कई चित्र हैं मेरे पास !"

दुर्गा ने कहा :

"यह रंगोली इतनी सुन्दर सजाती है कि देखने वाला देखता ही रह जाए ! रेखाएं बहुत महीन—बारीक !"

"आप बीमार थीं क्या ?"

मैं हंस पड़ी। बोली :

"नहीं, मेरी काया ही ऐसी है। अच्छा, बताइए कब आ रहे हैं ?"

"कभी भी। आज...कल...कल शाम को आऊंगा।"

चाय की खाली प्याली लेकर हम दोनों लौट आए। अपने कमरे में पहुंचने पर दुर्गा कुछ रोष से बोली :

"मां हमारे घर खाना बनाती हैं, यह बताना क्या आवश्यक था ?"

"और छुपाने से क्या होता ?" मैंने हंसते हुए पूछा।

"न जाने क्या सोचते होंगे वे।"

"ज्ञान से बढ़कर कुछ नहीं, दुर्गाबहन ! उसे छिपाने से क्या लाभ ? किसी-न-किसी दिन तो उन्हें ज्ञात होना ही था। फिर उन्हें जो धक्का पहुंचता, उससे मैंने उन्हें बचा लिया।"

"आऽहा हा। बड़ी आई बचाने वाली ! आज मैं ज्ञानेश्वरी सुनने नहीं आऊंगी।"

"क्यों ? क्या पंछी युगल आज आकाश में विचरने वाला है ?"

ज्ञानेश्वरी का पाठ पूरा कर बाहर निकली तो मामाजी को आरी से लकड़ी चीरते देखा। उनके पास चली गई। कहा :

"मामाजी, मैं मदद करूं ?"

मुझे घूरते हुए मामाजी बोले :

"तुम ? न, बाबा न !"

मैंने हंसकर कहा :

"क्यों ? क्या हुआ मामाजी ?"

"नहीं, रहने दे। अभी दो-चार दिन इसी घर में बिताना चाहता हूं ! यदि काकीजी को पता चल गया तो ? भगवान बचाए उस विपदा से। उससे तो तोप का गोला भला !"

लौटते समय कुछ देर आडकूजी के घर रुकी। लक्ष्मी बीमार थी। उसके सिरहाने बैठी।

स्वास्थ्य के बारे में पूछने पर वह कहने लगी :

"मनुबाय, अब तो आंखें उस पार लग गई हैं।"

"काकी, आज से आठवें दिन अच्छा मुहूर्त है।"

"कैसा मुहूरत ?"

मैं मुस्कराती हुई बोली :

"उस पार जाना है न, उसका।"

गंभीर दशा में भी वह हंस पड़ी। पास ही कथरी पर पड़ी आडकूजी की पोती लगातार रो रही थी। मैंने उसे गोद में उठा लिया। दुलारा तो चुप हो गई। बाहर बछड़ा उछल-कूद मचा रहा था। उसके पास जाकर उसे सहलाया। फिर काकी से चलने की अनुमति मांगी। वह बोली :

"मनुबाय, ये कौन बात की खुसी छाई है आज ?"

मैंने उनकी ओर देखकर कहा :

"काकी, खुश होने के लिए क्या तुम्हारी तरह मुहूर्त देखना पड़ता है ?"

"ऐसे ही खुस रहना जी।" काकी करवट बदलते हुए बोलीं, "अपने घर में सुख पाओ, दामाद का घर उजाले से भर देना।"

मैं उन्हें बताने वाली थी कि जिसे मैंने वर लिया है 'उसका' घर तो चिर प्रकाश से भरा है। पर शायद वह मेरी बात समझ न पातीं।

२५/

इजारदारों के दामाद हमारे घर पधारेंगे, इसलिए मां का कहना था कि उन्हीं के यहां से कुछ अच्छा-सा बिछाने के लिए ले आओ। साथ ही कुछ प्लेटें और चम्मच भी। मैंने कहा :

"मां, यह आडंबर क्यों ?"

"इसमें आडंबर की क्या बात है ? कुछ तो ठीक दिखे।"

"देखो मां, वे हमारे घर की बिछावन देखने तो नहीं आ रहे हैं न ! वे आ रहे हैं तात्याजी के बनाए चित्रों को देखने और हमारी आर्थिक स्थिति से वे भली-भांति परिचित हैं।"

मां विस्मित थीं। बोलीं :

"उनसे किसने कहा ?"

"और दूसरा कौन बताएगा ?"

"क्या बताया तुमने ?"

"यही कि, मां इजारदारों के यहां रसोई बनाती हैं।"

"आखिर बेटी किसकी है ?"

मुस्कराकर मैंने कहा :

"बेकार में झूठ क्यों बोलना, मां ? एक दिन तो उन्हें पता लगना ही था।"

"तुम ठीक ही कह रही हो।"

शाम के कोई पांच बजे होंगे। मैंने टाट पर दरी बिछा दी। एक तकिया दीवार से टेककर रखा ! दोनों ठीक समय पर आ पहुंचे। मैंने उनका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करते हुए कहा :

"इस प्रकार साथ-साथ तो इजारदारों के बंगले में भी नहीं गए होंगे।"

चित्रकार हंस पड़े, फिर बोले :

"जब इन्होंने आपको गुरु बनाया है तो बातों को चतुराई से सामने रखने का ढंग भी इन्हें अवश्य सिखा दें।"

दुर्गा ने मुझे आंखें दिखाईं। मैं बोली :

"तुम्हारे आसरे रहती हूं, सो तुम्हारा शासन तो मानना ही पड़ेगा। परन्तु जिस पर अधिकारपूर्वक शासन करना है, वह तो बगल में खड़ा है, दुर्गाबहन।"

"लगता है, कल का गुस्सा कम नहीं हुआ।" चित्रकार बोले।

मैंने हंसते हुए कहा :

"नाममात्र भी नहीं रहा उसका। खैर, रहने भी दीजिए। एक बार आपका विवाह हो जाए, तब जानेंगे कि चतुराई से बात करना सीखने के लिए यदि उत्तम गुरु की आवश्यकता है तो वह आपकी बगल में ही खड़ी है। आप लोग अंदर तो आइए। सारी बातें दरवाजे पर ही करेंगे क्या ?"

दोनों अन्दर आकर बैठ गए। चित्रकार ने चारों ओर निहारा फिर बोले :

"लगता है, किसी पाठशाला में पहुंच गया हूं।"

"घुटन तो नहीं हो रही है ?"

"नहीं-नहीं ! इस मुक्त वातावरण में भला कैसी घुटन ? हां, यदि घुटन होने की संभावना कहीं है, तो वह है हमारी ससुराल। दिन में दस बार ये खाओ ! वो खाओ ! ये पीओ ! वो पीओ। मना करने पर सफाई दो। बाप रे ! यदि एक माह वहां रह लिया तो अगले एक महीने तक उपवास करना पड़ेगा।" फिर थोड़ा रुककर बोले, "क्या मैं इन पुस्तकों को देख सकता हूं ?"

"अवश्य।"

मैंने इशारे से दुर्गा को अन्दर बुलाया। अन्दर आते ही वह फुस-फुसाई ;

"कल के कौन से गुस्से की बात कर रहे थे बार-बार तुम लोग ?"

"धैर्य रखो, वह सारा किस्सा अवश्य बताऊंगी। लेकिन यह पूछने के लिए तुम्हें अभी अन्दर बुलाया है कि क्या मेहमान चीले खाना पसंद करेंगे ?"

"हां, क्यों नहीं ?"

"पर मक्खन नहीं है साथ में रखने के लिए।"

"फिर हमारे घर से क्यों नहीं मंगवा लिया ?"

"यह खातिरदारी क्या तुम्हारे घर में हो रही है ?"

"तुम भी ऐसी कठोर हो न ?"

"रहने दो, आज विदुर के घर के चावल ही सही।"

मां चीले बनाने की तैयारी में लग गईं। हम दोनों बाहर आए। चित्रकार प्रत्येक पुस्तक पर लिखा नाम पढ़ने में व्यस्त थे।

"आपके इन वैदिक विषयों से हम अनभिज्ञ हैं। परन्तु इन किताबों पर अंकित मोतियों से अक्षर देख मुझे अपने हस्ताक्षरों पर शर्म आती है। विश्वास ही नहीं होता कि हाथ से लिखे गए हैं।"

"जिनकी आप प्रशंसा कर रहे हैं, काश, वे हमारे बीच होते !"

"कहां हैं वे ?"

"बहुत दूर, जहां से कोई वापस नहीं लौटता।"

अचकचा गए चित्रकार। बोले :

"क्षमा करें। कितने दिन हुए ?"

"यही कोई सवा साल।"

"हे ईश्वर !"

मेरा मन स्थिर था। कहा :

"उनके लिए यदि हम दुःख करें तो उनकी आत्मा दुःखी होगी। वे साधु पुरुष थे। हमेशा नीति-धर्म से रहे। जिस तत्वज्ञान के सहारे वे जीते रहे, जिसका आचरण वे आजन्म करते रहे, उसे मेरे हाथों सौंपने का उन्होंने सफल प्रयास किया। बुलावा आया तो चुपचाप निकल गए। उन्होंने कभी किसी को कष्ट नहीं पहुंचाया।"

चित्रकार एकटक मेरी ओर देखते रहे। फिर धीमी आवाज में बोले,

"कल जब मैं इन्हें ठीक से जानता भी न था, तब पागलों की तरह यहां आया। इस दरवाजे की चौखट पर खड़ा रहा और बोला कि आपकी आंखें सुन्दर हैं। इन आंखों को चित्र-रूप में उतारना चाहता हूं। परन्तु आज मुझे अपनी घोर मूर्खता का ध्यान आया।"

दुर्गा विस्मय से उनकी ओर देखती रही। मैंने हंसकर कहा :

"कल की बात भूल जाइए। आज जी भरकर चित्र बना लें।"

गर्दन हिलाते हुए उन्होंने कहा :

"नहीं, अब यह संभव नहीं।"

"क्यों ?"

"जिस वस्तु का स्पर्श ईश्वर कर ले, उसका चित्र बनाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं।"

वे चुपचाप कुछ देर विचार-मग्न बैठे रहे। मैंने ही मौन तोड़ा,

"तात्याजी के बनाए चित्र नहीं देखेंगे ?"

"अवश्य देखूंगा।"

मैंने चित्र उनके सामने रख दिए। नाश्ता लेने अन्दर पहुंची। पीछे-पीछे दुर्गा भी आ गई। मुझे पकड़ मेरी आंखों में झांकती रही। मैंने धीरे-से उसे हटाते हुए कहा :

"यह क्या हो रहा है, दुर्गा ?"

दुर्गा ने एक लम्बी सांस छोड़ी। बोली :

"इनकी समझ ऊंची है।"

उसके हाथ में नाश्ते की प्लेट देते हुए मैंने पानी का लोटा उठाया और कहा :

"उन्हें नाश्ता दे आओ।"

मां बोलीं :

"पता नहीं, नमक-मिर्च ठीक से पड़ा भी है या नहीं ?"

नाश्ता लेकर हम दोनों बाहर आए। देखा, वे चित्रों में डूबे हुए हैं। हमारी ओर उनका ध्यान ही नहीं था। प्लेटें नीचे रख हम दोनों खड़ी रहीं। थोड़ी देर बाद बोले, "ईश्वर की देन तो देखो। कैसी सुन्दर कला प्रदान की है इन उंगलियों को ! बिलकुल सहजता से बने ये चित्र ! जितनी सहजता से मनुष्य जमुहाई लेता है वैसे ! इन रेखाओं को देखने से प्रतीत होता है कि इन्हें बनाने में अधिक परिश्रम की आवश्यकता ही नहीं पड़ी होगी उनको। यदि आपके पिता के पास थोड़ा-सा तांत्रिक ज्ञान होता तो हमारे जैसे चित्रकार उनके शिष्य बन, चरणों में बैठ, बहुत-कुछ सीखते।"

मां दरवाजे की ओट में खड़ी होकर सबकुछ सुन रही थीं। वे झट गर्दन फेर अंदर मुड़ गईं। उनकी प्लेट खाली हो चुकी थी। उन्होंने और चीले की मांग की। मैंने अंदर से ला परोसा और बोली :

"दादा, यदि और खाने का मन हुआ तो थोड़ा रुकना पड़ेगा।"

मेरा संबोधन सुन उन्होंने झट से प्लेट नीचे रख दी और पूछा :

"क्या कहकर बुलाया आपने मुझे ?"

" 'दादा' कहा। गलती हुई क्या ?"

"अब यह नाता बदलने की बात कभी मन में भी न लाइएगा।"

थोड़ी देर बाद वे उठ खड़े हुए। बोले :

"ईश्वर के घर बने ये नाते-रिश्ते, पता नहीं, कहां छिपे रहते हैं ! जिस दिन उनका पता चलता है, वही जीवन का स्वर्णिम दिन होता है।"

फिर रसोई की ओर मुड़ते हुए उन्होंने पूछा :

"माताजी कहां हैं ?"

अबतक मां की मानसिक स्थिति कुछ संभल गई थी। वह दरवाजे पर आ खड़ी हुईं। चित्रकार बोले :

"आप बाहर आइए, चरणस्पर्श करने हैं।"

धीरे से मां बोलीं, किसलिए ?"

"आप बाहर तो आइए, वरना मुझे ही अंदर आना होगा।"

सकुचाती हुई मां बाहर आईं। उन दोनों ने मां के चरण छुए। फिर वे बोले :

"पिताजी बता रहे थे कि इजारदारों से हमारा दूर का रिश्ता है। परन्तु ईश्वर-निर्मित नाते के लोग इजारदारों के बंगले के पीछे, दैन्यावस्था में रहते हैं, यह मालूम न था।"

झट से मैं बोली :

"नहीं, ऐसा न कहिए।"

"क्यों ? क्या हुआ ?"

"हम दीन-अवस्था में जीते हैं, यह आपसे किसने कहा ? हम कष्ट करते हैं और सुख से जीते हैं। दादा, हमें दीन कहकर..."

मुझे रुकता देख वे बोले :

"हां-हां, आगे बोलिए। हमें दीन-दुःखी न कहें।"

२६/

दामाद से जुड़े रिश्ते की बात जब बंगले में पहुंची तो जैसे सभी को झटका-सा लगा। मामाजी बोले :

"ये कोंकण के पंडित जो न करें, वही कम है। किसी से भी रिश्ता जोड़ने में हिचकिचाएंगे नहीं। सभी इनके नातेदार।"

काकीजी का चेहरा गुस्से से तमतमा गया। बोली :

"दामाद ने आपसे तो कोई रिश्ता नहीं जोड़ा ?"

मामाजी ने बेतरह चिढ़ कर कहा :

"अब मेरा मुंह न खुलवाओ, इसीमें भलाई है।"

"साफ-साफ बोलिए। क्या कहना चाहते हैं आप ?"

"हां, जरूर बोलूंगा। उस बडी-बड़ी आंखों वाली लड़की ने मोह लिया है उन्हें। और वे भी पूरी तरह मोहित हो गए हैं।"

इस बात पर काकीजी और मामाजी में बहुत वाद-विवाद हुआ। बंगले में घटित सारा किस्सा हम मां-बेटी तक पहुंचा। और कोई समय होता, तो यह बात तीर-सी हृदय में बिंध जाती, परन्तु आज उसका कोई असर न हुआ। मैंने मन-ही-मन कहा :

"हे ईश्वर ! तुम्हारी दुनिया में ऐसे लोग भी हैं ? स्वभाव की विविधता है, इसीलिए इसके प्रति स्नेह है, अन्यथा इससे ऊब जाती।"

संध्या समय काकीजी आईं। काफी देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं।

"अब तो आप हमारी सम्बन्धी हो गई हैं।" अचानक उन्होंने कहा।

"किसी के किसी को स्नेह से मां-बहन कहने मात्र से भला कोई

सगा-संबंधी बन जाता है ?" मां ने कहा, "कहने भर से रिश्ते नहीं जुड़ जाते ।"

"आप ऐसा क्यों कहती हैं ? जाते समय दामाद जता गए हैं कि मां-बेटी को कोई कष्ट न रहे ।"

"यह तो उनका बड़प्पन है ।"

"मालकिन ने संदेशा भेजा है कि कल से आप रसोई का काम न करें ।"

मैं अंदर से सबकुछ सुन रही थी । मालकिन का संदेशा सुनकर बाहर आई । दीवार से लगकर कहा :

"काकीजी, ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है..."

"क्या कहा है, बेटी ?"

"यही कि दूसरे के महल देखकर अपनी कुटिया को तोड़ना नहीं चाहिए । अपने धर्म का आचरण करने में कितने ही कष्ट क्यों न आएं, उसे छोड़ना नहीं चाहिए, त्यागना नहीं चाहिए । उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए ।"

"क्या तुम यह कहना चाहती हो कि..."

"कि हम अपनी मेहनत से कमाएं और खाएं !"

"यानी मां कष्ट सहती रहें ?"

"आप भले ही ऐसा कहें, परन्तु मेरे विचार से तो मां सारे बंगले को भोजन कराकर तृप्त करती हैं !"

काकीजी मेरी ओर देखती रहीं । फिर हथेली को मुंह पर रखकर बोलीं :

"और मालकिन ने कल से आने के लिए मना कर दिया तो ?"

मुझे हंसी आ गई । मुझे हंसते देख काकीजी बोलीं :

"तुम्हारी यह हंसी चुभती है, मनु !"

मैं गंभीर हो कर बोली :

"फिर तो हमें इस घर में रहने का भी अधिकार नहीं !"

मां की ओर मुड़कर काकीजी ने पूछा :

"आपका क्या विचार है ?"

"वह ठीक ही कह रही है । आप मालकिन से कहें कि पुराना नाता तोड़कर नया रिश्ता न जोड़ें । हम दोनों जो काम पहले करते थे, वही अब भी करेंगे । मां-बेटी को आश्रय देकर वैसे ही आपने उपकृत किया है और अधिक उपकारों का बोझ हम पर न डालें, यही विनती है ।"

थोड़ी देर बाद काकीजी चली गईं । उनके जाते ही दुर्गा आ पहुंची । बड़ी देर तक मुंह फुलाए बैठी रही । उसे समझाने में बहुत कठिनाई हुई । कहने लगी :

"अब तो यह मेरी ससुराल हो गयी । सासजी रसोई का काम करें, यह..."

"मेरी बात सुनो, मां के हाथ की रोटी तुम्हें बहुत पसन्द है ?"

"हां, है । मैं तो कहूंगी कि उनके हाथ का बना खाना मैं कुछ अधिक ही खा लेती हूं ।"

"फिर ? देखो, कितनों के मुंह का कौर छिन जाएगा ?"

दुर्गा को कोई जवाब न सूझा । फिर भी वह अपनी बात पर अड़ी रही :

"कुछ भी कहो, मैं चाचीजी को रसोई का काम नहीं करने दूंगी ।"

"दुर्गा, क्या हरिश्चन्द्र के जीवन में भी ऐसा कठिन समय नहीं आया था ?"

"उन पुराण-कथाओं को छोड़ो..."

"अच्छा, फिर ऐतिहासिक उदाहरण सुनो, क्या भीम, वल्लभाचार्य बनकर विराट के घर में..."

पराजित-सी दुर्गा दीन स्वर में बोली !

"बार-बार वही सब क्यों बताती रहती हो ?"

"कोई असत्य बात भी यदि सौ बार बताई जाए, तो सत्य प्रतीत होने लगती है । फिर यह तो सूर्य के समान सत्य है ।"

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहती ।"

"तुम तो समझदार हो ।"

"नहीं, बिलकुल नहीं !"

मैं उसके पास आ गई। उसे दुलारा, सहलाया, तो वह मेरी गोद में मुंह छिपाकर रोने लगी। मैंने समझाया :

"ऐसा मत करो, दुर्गा। सुनती हो, ये जो श्रीहरि हैं न, बड़े रोचक कार्य करते हैं, मात्र इसलिए कि आनंद दूना हो जाए। कभी भक्त का रूप धरकर अपनी सेवा में लीन हो जाते हैं, श्रीमुख का दर्शन और आलिंगन करते हैं, कल्याण की बात समझाते हैं, एकांत में प्रीत के बोल सुनाते हैं, कभी ईश्वर का रूप धारण कर मंदिर में अचल खड़े रहते हैं। उनका दूसरा रूप उनसे मनौती मांग रहा होता है। मनौती पूरी होने पर हर्ष-उल्लास। यदि पूरी न हुई तो 'उन्हें' भला-बुरा कहने में भी हिचकता नहीं। वह उनका अस्तित्व ही अस्वीकार कर देता है। जग में ईश्वर नहीं है, ऐसा कह, वह मूर्ति को तिरस्कार से देखता है। उसकी अवहेलना करता है। ठीक उसी समय यह सारा खेल 'वे' मूर्ति बन चुपचाप, अंधमुंदी आंखों से देखते रहते हैं। इस नाटक का मानो पूरा आनंद लूटते हैं!"

"कभी वे हत्यारे बन जाते हैं। सारा विश्व उन्हीं का रूप होते हुए भी उसे जलाना शुरू कर देते हैं। चारों ओर हत्याओं का अनवरत क्रम आरंभ हो जाता है। अनगिनत लोगों के प्राण चले जाते हैं। फिर सारा विश्व 'त्राहि-त्राहि' कहते हुए भगवान के स्मरण में लीन हो जाता है। आर्त स्वर में उनकी आराधना करने लगता है।

"कभी वे निद्रा रूप में सभी को थपकियां देकर सुलाते हैं, तो कभी भूकंप के रूप में सारे विश्व को हिला देते हैं! कभी ज्ञानेश्वर बन हाथ में कटोरा लेकर दर-दर भीख मांगते फिरते हैं और उसी समय निंदक का रूप रखकर उस भिखमंगे को अपमानित करने के लिए उसके कटोरे में मिट्टी डालकर विकट हास्य करते हैं!

"कभी मीरा होते हैं, तो कभी गोपाल बन उसके सपनों में जा बसते हैं। कभी उसके गले में बांहें डालते हैं तो कभी राणाजी बन उसके हाथों में विष का प्याला थमा देते हैं!

"दुर्गा, जिन सुखों का हम अनुभव करते हैं वे 'उन्हीं' के रूप हैं। कान, नाक, आंखें, शरीर सब उन्हीं के हैं। शरीर के माध्यम से वह स्वयं को

भोगते हैं। वे खाते हैं, पीते हैं, त्याग भी करते हैं और हनन भी करते हैं। प्रशंसा भी वही करते हैं और गला भी वही घोंटते हैं।

"कभी वे दुर्गा बनकर किसी के बनाए भोजन की प्रशंसा करते हैं और उसी समय चूल्हे की गर्मी सहते हुए रोटी बनाने का कष्ट भी कर रहे होते हैं।

"यह सब धीरे-धीरे समझ में आने लगता है, पता है कब? जब हम अपना सर्वस्व 'उसे' अर्पित कर दें तब! अपने आपको उसे समर्पित कर देने से उसकी लीलाएँ समझ में आने लगती हैं।"

इतना कहकर मैं हंसने लगी। इतना हंसी कि आंखों में आंसू छलक आए। दुर्गा आश्चर्य से मुझे देखने लगी। मैंने उसका माथा चूम लिया। वह बोली :

"क्या तुमने ऐसा किया है? क्या 'उसे' अपने आपको समर्पित कर दिया है?"

आंसू पोंछते हुए मैंने जवाब दिया :

"मैं नहीं जानती, उसका हो जाना कैसा होता है!"

मुझसे दूर होती दुर्गा बोली :

"तुम्हें समझ पाने में मैं असमर्थ हूं! तुम्हारे बारे में सोचती हूं तो लगता है कि तुम हम सबसे अलग हो। तुम्हारी उदासीनता देख क्रोध आता है। तब मन करता है कि तुम्हारा हाथ पकड़कर चौराहे पर खड़ा कर दूं तुम्हें! तुम्हारे माथे पर मिट्टी का तिलक लगाकर कहूं कि तुम सामान्य हो, असामान्य नहीं। तुम्हारे दंभ के टुकड़े-टुकड़े कर दूं। तुम्हें खूब अपमानित करूं। पर दूसरे ही क्षण तुम्हारा कहीं खो जाना, आंखों के सामने उभर आता है और तब विश्वास हो जाता है कि जो कुछ भी मैं करूं, उसका असर तुम पर कदापि नहीं होगा।"

कुछ पल वह रुकी, फिर बोली :

"मुझे तो डर इस बात का है कि 'वे' कहेंगे कि मैंने इस दिशा में कोई प्रयत्न ही नहीं किया।"

मैंने कहा :

"दुर्गा, शायद यह सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा कि मैंने उनके स्वभाव

को समझ लिया है। अपने पत्र में तुम उन्हें लिख दो कि जो व्यवस्था हम लोगों की यहां पहले से बनी है, उसे बदलने के लिए मैंने ही मना किया है। ऐसा लिख देने से न तो वे तुमसे नाराज होंगे और न अविश्वास की स्थिति बनेगी।"

२७/

सबकुछ पूर्ववत् चलता रहा। दामाद से जुड़े नाते की बात धीरे-धीरे बंगले वाले भूल गए।

एक दिन चित्रकार का पत्र आया। सामान्य हालचाल लिखने के बाद लिखा था :

"आपने वहां की व्यवस्था पहले जैसी ही रहने दी। मेरा आप पर पूर्ण विश्वास है।

"किसी कारणवश ही ऐसा किया होगा। आपसे एक नम्र प्रार्थना है कि आपने जो प्रयत्नपूर्वक हासिल किया है, उसका कम-से-कम एक अंश अपनी शिष्या को प्रदान करें। आपने मुझे 'दादा' कहा है, सो इतना अवश्य करें।

"आप मुझसे उम्र में छोटी हैं, फिर भी आपसे हम आशीर्वाद की इच्छा रखते हैं, जो हमारे सुखी गृहस्थ जीवन के लिए आवश्यक है।

"उस दिन आपका चित्र बनाने की अनुमति मैंने मांगी तो आप अंदर चली गईं, परन्तु दूसरे ही दिन अनुमति दे दी, इसका कारण मैं समझ नहीं पाया हूं। आपसे उसकी सफाई मांगकर मैं आपका अपमान नहीं करना चाहता।"

मैंने वह पत्र केवल दुर्गा को ही दिखाया। वह भी इसलिए, क्योंकि उसके भावी पति का पत्र था। उसने पढ़ा। थोड़ी देर बैठी रही। अचानक पत्र उठाकर जाने लगी। मैंने पूछा :

"कहां जा रही हो?"

"सबको यह पत्र दिखाऊंगी।"

"उससे क्या होगा?"

"दामाद के प्रति सभी के मन में आदर तथा स्नेह है। उन्होंने तुम्हें क्या लिखा है, एक बार सबको पढ़ लेने दो। सबकी आंखों में अंजन पड़ने दो।"

मैंने उसकी बांह पकड़ ली। बोली :

"उससे क्या होगा?"

मेरी ओर स्थिर नजरों से देखा उसने। कहा :

"तुमसे ईर्ष्या, द्वेष करने वाले कितने ही लोग बंगले में हैं। तुम उनसे अनभिज्ञ हो, मनु।"

मैंने मुस्कराते हुए पूछा,

"मुझसे? और ईर्ष्या? क्यों?"

"पहला कारण तो यह है कि मैं तुम्हें छोड़ किसी की कुछ सुनती ही नहीं हूं। दूसरा 'उन्होंने' तुमसे रिश्ता जो जोड़ा है।"

"ईर्ष्या करते हैं तो खुशी से करने दो। समय का कोई अभाव नहीं है उनके पास!

तुम पढ़ी-लिखी हो, इसलिए पुस्तकें पढ़कर समय अच्छी तरह बिता लेती हो। यदि पढ़ने से ऊब जाओ तो कढ़ाई कर सकती हो। परन्तु वे क्या करें? निंदा और ईर्ष्या, यही एक कार्य उनके लिए बच जाता है। उनके पास यही एक साधन है, खाली समय व्यतीत करने का! उसे न छीनो उनसे!"

मुंह पर हथेली धरे कुछ देर तक विस्मय से वह मेरी ओर देखती रही। फिर बोली :

"ओ जोगाबाई! तुमसे ईर्ष्या करना हरिस्मरण करना तो नहीं है न!"

"देखो, जहां घास होती है वहां चिनगारी गिरने से सब जल जाता है, पर जहां घास है ही नहीं, वहां चिनगारी गिरने से भी कुछ नहीं होता, अग्निकण स्वयं बुझ जाते हैं।"

"तुम इतनी निस्संग कैसे हो सकी हो, मनु? तुम्हें तो किसी बात से

कोई फर्क ही नहीं पड़ता ।"

मैंने हंसकर बात टाल दी ।

२८/

पुरोहित के शुभ मुहूर्त निकालते ही विवाह की तैयारियां शुरू हो गईं । सबसे पहले पापड़ बनाने का काम शुरू हुआ । मां मुझसे बोलीं :

"मनु, तुम भी चलो मदद करने, वरना वे लोग बुरा मानेगें ।"

"अवश्य चलूंगी, मां ! यहां करना भी क्या है मुझे ?"

बंगले के पिछवाड़े एक बड़ा-सा बरामदा था । वहीं पापड़ बनाने का काम हो रहा था । बहुत-सी औरतें आईं थीं । हम दोनों कुछ देर से पहुंचीं ।

मुझे काकीजी ने अपने पास बिठा लिया । बड़ी-सी परात में लोइयां रखी थीं । उसमें से कुछ लोइयां लेकर मैं पापड़ बेलने लगी । सभी मेरी ओर देख रही थीं । उनमें से एक कुछ अधिक ही ढीठ थी । उसके साथ उसकी अविवाहित भांजी भी आई हुई थी । मेरी ओर देख वह महिला बोली :

"अरे वाह ! पापड़ बेलना भी जानती हो क्या ?"

काकीजी ने उनकी ओर देखकर कहा :

"आपको क्या लगा ?"

"नहीं, मुझे लगा कि सिर्फ 'ज्ञानेश्वरी' पढ़ना ही जानती है ।"

काकीजी कोई चुभने वाली बात बोलने वाली थीं, पर मैंने आंखों से इशारा करके उन्हें मना कर दिया । उस महिला का मन मानो अभी भरा न था । हंसती हुई आगे बोली :

"हमारी किशी भी पढ़ी-लिखी है । ये तो हमेशा कहते हैं कि वह एम. एफ. है ।"

काकीजी ने पूछा :

"एम. एफ. याने क्या ?"

"ऐसा ही, कुछ बड़ा-सा है ! हां, तो वह भी मुझे पढ़कर सुनाती है।"

काकीजी ने दुर्गा को आवाज लगाई । वह दरवाजे पर आ खड़ी हुई ।

"क्यों दुर्गा, एम. एफ. का क्या मतलब होता है ?"

"आप मतलब किसलिए पूछ रही हैं ?"

वह महिला सबकी ओर देखतीं, अकड़कर बोलीं :

"याने, इसका मतलब दुर्गा भी नहीं जानती । हां, तो दुर्गा, यह हमारी किशी जो है न..."

दुर्गा ने किशी से पूछा :

"तुमने मैट्रिक की परीक्षा तीन बार दी है न ?"

किशी चुपचाप गर्दन झुकाए बैठी रही । कुछ न बोली । फिर दुर्गा कठोर स्वर में बोली :

"तीन बार बैठकर भी फल क्या निकला ?"

इतना कहकर वह तीर की तरह अंदर चली गई । मैं बात बढ़ाना नहीं चाहती थी । सो काकीजी से पूछा :

"काकीजी, कोई भजन सुनाऊं ?"

"अरी, पर..."

"सुनाती हूं । द्रौपदी का विनय-गीत सुनाती हूं ।"

"जैसी तेरी इच्छा ! सुना दे ।"

दुर्गा कुछ समय बाद दरवाजे पर आई और मुझे अंदर बुलाने लगी । काकीजी से आज्ञा लेकर मैं उठी, हाथ धोकर अंदर पहुंची तो उसे गुस्से में पाया । वह गुस्से से बोली,

"तुम इतनी निस्संग क्यों हो गई हो ?"

"क्यों, क्या हुआ ?"

"सिर तुम्हारा ! वे सब तुम्हारी निंदा करती हैं, तुम्हें नीचा दिखाने के लिए भला-बुरा कहती हैं, और एक तुम हो, जो उन्हें गीत सुना रही हो ?"

"तो इसमें गलत क्या किया ?"

"अरी, तुम्हारी जगह में होती तो एक-एक से निबट लेती ! समझी ?"

"अच्छा, तो अब मैं चलूं ।"

"कहां ?"

"ऊपर ! जहां तुम्हारे पिता की बंदूक रखी है, उससे सभी को गोली मार दूं ।"

और मैंने हंसते हुए अपनी दोनों बांहें उसके गले में डाल दीं । लेकिन वह काफी क्षुब्ध थी । गुस्से से दूर छिटक गई । बोली :

"तुम्हारी यह हंसी मुझे बिल्कुल नहीं भाती । पहले तो तुम ऐसी नहीं थीं । तुममें स्वाभिमान था । लेकिन अब ऐसा लगता है कि यदि अपने फटे-पुराने कपड़े भी तुम्हें पहना दूं तो तुम उसे अपनी शान समझोगी !"

अब एक-एककर मेहमानों का आना शुरू हो गया । थका-हारा, कुछ परेशान-सा आडकूजी गुस्से में बड़बड़ा रहा था ।

मैंने पूछा :

"क्या हुआ, आडकूजी ?"

"कुछ नई । ये रोज-रोज के मेहमान । दोनों टैम जाना पड़ता है टेसन पर ।"

"वह तो तुम्हें जाना ही चाहिए । मालिकों के घर का पहला काज है..."

"मैं कब मना करता हूं ? लेकिन मेहमान हैं कि आते ही हरेक को कोसना शुरू कर देते हैं ! जहां मेहमान बनकर आए, उसी को नाम धरते हैं । यहां का रास्ता खराब है, धूल बहुत है, और बैल एकदम दुबले-पतले, कमजोर हैं ! कहेंगे कि आडकूजी के कान में बहुत सारे बालों का झंखाड़ है । आप ही कहो मनुबाई, मेरे कानों में जो झंखाड़ है, उसके तेल-पानी का खर्चा क्या ये सुसरे देते हैं ? हां ! बोलो ?"

आडकूजी की बातें सुन मुझे बहुत हंसी आई । वह भी हंसता हुआ बोला :

"अच्छा, अब चलता हूं । गाड़ी का बखत हो गया है । जाना ही पड़ेगा ।"

शादी की तिथि अगहन में पड़ती थी । धीरे-धीरे बंगला मेहमानों से भरने लगा । अब दुर्गा अधिकांश समय हमारे घर पर ही रहती थी । कभी-कभी तो रात में सोने के लिए भी रुक जाती । नाज़ों में पली, बड़े घर की यह लड़की, हमारी कुटिया में गुदड़ियों में सो जाती । अपने घर से एकाध शाल ले आती । हम दोनों एक ही बिस्तर में लेटे देर रात तक बतियाते रहते ।

हम मां-बेटी सोने से पहले आंखें बंद कर पांच मिनट ईश्वर का ध्यान करतीं और फिर सोतीं । हमारी देखा-देखी दुर्गा भी इसमें रस लेने लगी । एक दिन बोली :

"मनु, यह ध्यान-धारणा है न, उसके बारे में तो मैं कुछ नहीं जानती, परन्तु इतना अवश्य कहूंगी कि मौन के ये कुछ क्षण बड़ा सुख दे जाते हैं ।"

दुर्गा अब 'बन्नी' थी । हर कोई उसे खाने पर बुलाता । अधिकतर वह मुझे भी साथ ले जाती । कभी-कभी दोपहर का खाना कुछ ज्यादा हो जाता तो वह रात में कुछ न खाती । मां के अत्यधिक आग्रह पर कभी-कभार दो-एक कौर हमारे साथ ही खा लेती और सो जाती ।

२९/

दरवाजे से पीठ टिकाए, पैर पसारे मैं घर के पिछवाड़े, देहरी पर बैठी थी । धीरे-धीरे अंधेरा छाने लगा, फिर भी बैठी रही ।

कुछ देर पहले बरसा पानी जहां-तहां गड्ढों में भरा दिखाई दे रहा था । एक मेंढकी बड़ी देर से टर्रा रही थी । आकाश में बदलियां घिरी थीं । दूर कहीं बिजली भी कड़क रही थी । हाथ में जलती लालटेन लिये दूर कोई जल्दी-जल्दी चला जा रहा था । मेंढकी के टर्राने के अतिरिक्त अन्य कोई आवाज वातावरण में न थी ।

मन बहुत भारी हो गया था । अपने आपको एकाकी अनुभव कर रही थी । तात्याजी बेहद याद आ रहे थे । गाडगे बाबा का भी स्मरण हो आया । कुछ समय यही बोझिल अवस्था रही । फिर धीरे-धीरे बोझ कुछ घटता-सा प्रतीत हुआ । जैसे भीड़भरी हाट के उठ जाने पर बचती हैं उसकी निशानियां, जो उसके कभी वहां होने की गवाही देती हैं, ठीक वही अवस्था थी मेरे मन की ।

लगता था, जैसे चहुं ओर मेघ घिर आए हों, पर बरसने का नाम नहीं । निश्चल पेड़ । पत्तों का हिलना-डुलना तक बन्द । जैसे हवा कहीं मेहमान बन निकल गई हो । एक प्रकार से दम घोंटता वातावरण । मन की अव्यक्त घुटन !

लगा, फूट-फूटकर रो लूं तो शायद मन हल्का हो जाए। परन्तु रुलाई भी नहीं फूट रही थी । सर्दी-जुकाम में जैसे नाक बंद हो जाती है, सांस अंदर लेना भी मुश्किल और बाहर छोड़ना भी कठिन, ऐसी ही हालत मेरी हो रही थी ।

न जाने कितना कुछ कंठस्थ था, परन्तु इस पल कुछ भी याद नहीं आ रहा था । मन-प्रांगण में कोई रचना उभरने-उतरने को तैयार नहीं थी। एक अनजान कशमकश से मैं घिर गई थी । वहां से उठने का मन नहीं था । लगा, यह गूढ़ वातावरण निरंतर ऐसा ही बना रहे । अज्ञात का यह परदा यूं ही बना रहे । उस पार कुछ न दीखे । प्रकाश की एक किरण भी दृष्टिगोचर न हो । बिजलियों का कड़कना, चमकना भी थम जाए ।

अचानक मन की अंधेरी गुफा में किसी स्त्री ने प्रवेश किया । उसके बाल घने तथा लंबे थे । आते ही वह औंधी लेट गई । फिर धीरे-धीरे उठी और घुटनों को पेट की ओर मोड़ लिया । उसके सुन्दर घने केश उसके चेहरे तथा पीठ पर बिखर गए । घने केशों में छिपा चेहरा देखने में मैं असमर्थ थी । फिर देखा कि उसकी हिचकियां बंध गई हैं । जैसे उसका अंतर्मन आक्रोश से भरा था, पर वह उसे बरबस रोके हुए थी । दुःख व्यक्त नहीं होने देना चाहती थी । कहीं गहरा घाव है, जिसकी तीव्र वेदना को वह पीने का प्रयास कर रही थी ।

"वह कौन हो तुम ?"

"कोई उत्तर नहीं ।

"बताओगी नहीं ? मुझे भी ? मैं तो तुम्हारी सखी हूं न ?"

धीरे-धीरे वह उठी । दोनों हाथों से अपना चेहरा छिपाए !

"बोल न, सखी ! कुछ तो बोल !"

फिर उसने अपनी नुकीली, सुन्दर, कोमल उंगलियों वाली हथेलियों को चेहरे से हटाया । मैंने देखा, ओ मां ! यह तो विरहिणी है ! संत ज्ञानेश्वर महाराज की !

बरबस आंसू झरने लगे । जिसका न अंत न पार ! तो यह उसके आगमन की पूर्व तैयारी थी । विरहिणी का मंच-प्रवेश जो होना था । दिन जैसे रात बन गया । ऐसी अवस्था जो कर गया है, वह स्वयं क्यों नहीं आ रहा है ? हे गुण-गभीर, गरुड़वाहन ! ईश्वर, अब तो आ मिलो ! आओ न ! एक बार फिर आओ । हौले से एक बार गालों पर मोरपंख का जो स्पर्श दिया था, उसे कितना समय बीत गया । मेरे शरीर का रोम-रोम तुम्हारे स्पर्श के लिए आतुर है, प्यासा है ।

अचानक निकट ही बिजली चमकी । हल्की-सी गड़गड़ाहट हुई । उस गड़गड़ाहट में नाममात्र का भय न था । जैसे मृदंग बज रहा हो और उसकी मधुर ध्वनि सारे वातावरण में घूमकर मुझमें समा रही हो । फिर बिजली कड़की । मैं उठी ।

"हां-हां 'वह' आया था !"

वही चमक ! कहीं कोई मेघ न था । यह तो 'उस' का ही रूप था ! मस्तक पर मुकुट, वही नील कांति, वही हास्यवदन और अतिसुन्दर नीलकमल से नेत्र ! वही...वही...ओ बैरन ! चमक न फिर से ! हां, री हां ! यह तो 'वही' है !

आकाश की ओर निहारा । मेघों की गर्जना अब अधिक तीव्र हो गई थी ।

धीरे-धीरे पानी बरसने लगा । यह बरसना कोई सामान्य वर्षा का बरसना नहीं था । यह तो झर रही थी 'उस' की असीम, अपार करुणा— धधकते मनों को, हृदयों को तृप्त करने वाली करुणा !

बड़ी देर तक मैं उस बरसते पानी में खड़ी रही, अपनी दोनों

हथेलियां वक्ष पर रखे ! 'वह' कृपाघन धरती पर उतर आया था । मैं धरती मां के अंक में खड़ी 'उस' का आलिंगन कर रही थी । तृप्त हो रही थी ।

"मनु ऽ ऽ !"

किसी ने मेरी बांह पकड़कर मुझे झकझोरा । सुध आई तो देखा दुर्गा थी । कह रही थी :

"अरी, ओ बैरन, ये तुझे क्या हुआ हैं ?"

वह मुझे घसीटती, खींचती अंदर ले गई । सूखे कपड़े से मेरा बदन पोंछा । दूसरी धोती पहनने के लिए दी । बार-बार मुझसे पूछती रही। मैंने कोई जवाब नहीं दिया। क्रोधित दुर्गा ने बिस्तर लगाया । मैं धीरे-से हंस दी । मुझे अपने अंक में समेट वह शाल ओढ़कर सो गई ।

३०/

गेहूं पिसाने थे, चुनने-बीनने का काम करती रही । खाना खाने के बाद मां आराम कर रही थीं । बस थोड़ा ही समय हुआ होगा कि बंगले से बुलावा आ गया । मां चली गईं । कुछ देर बाद लौटीं तो व्यग्र-सी प्रतीत हो रही थीं ।

"क्या हुआ, मां ?" मैं भी कुछ परेशान-सी हो गई थी ।

बिना कुछ बोले वे रसोई के दरवाजे से टिककर बैठ गईं । थोड़ी देर बाद आंसू पोंछने लगीं । काम छोड़कर मैंने पूछा :

"क्या हुआ, मां ?"

कुछ देर मौन रहीं । फिर भारी मन से बोलीं :

"मनु बेटी, रिश्ता आया है ।"

पहले तो मेरी समझ में कुछ न आया । जब समझी तो कुछ देर उनकी ओर देखती रही । एकाध पल सांस रुक-सी गई, ऐसा लगा, पर दूसरे ही क्षण सबकुछ सामान्य था ।

"कुछ कहोगी नहीं, बेटी ?"

हंसकर पूछा :

"क्या कहूं, मां ?"

मां बोलीं :

"मालकिन की बहन हैं, कोंकण में । वहीं कहीं मुरुड़-आंजली के पास गांव है उनका । खाड़ी के किनारे । घर में बगीचा है । दस-बीस नारियल, सुपारी के पेड़ हैं । धान की खेती है । उनका इकलौता बेटा है । पिता को लकवा मार गया है । दुर्गा की शादी में आने वाली हैं । शायद लड़का भी आ जाए । स्वयं मालकिन ने ही रिश्ते की बात चलाई है ।"

कोंकण का नाम सुनते ही जैसे काया रोमांचित हो उठी । मां ने जो कुछ कहा, वह कानों ने सुना, परन्तु दिमाग तक न पहुंच पाया ।

कोंकण...कोंकण...कोंकण !

मैंने पुनः पूछा :

"कोंकण से रिश्ता आया है ?"

"हां ।"

"तुम 'हां' कर दो, मां !"

मां आश्चर्य से बोलीं :

"एकदम 'हां' कैसे कर दूं ? पराये घर बेटी देनी है मुझे, कोई गाय-बकरी नहीं ! वे लोग कैसे हैं, लड़का कैसा..."

"उसमें देखना क्या है, मां ? कोंकण में घर है न ?"

"हां ।"

"खाड़ी किनारे ?"

"हां, है तो ?"

"मेरी बात मानो, मां । तुम 'हां' कर दो । नारियल, सुपारी के पेड़ हैं न ? कलमी आम के भी ? तो तुम बात पक्की कर दो ।"

"मनु बेटी, कोई झाड़, पेड़ों से नहीं ब्याहना है तुम्हें । वे लोग..."

पुलकित हो मैं बीच में ही बोल पड़ी :

"मेरी सुनो मां, यह रिश्ता अपने आप नहीं आया है । इसे मेरे अपने तात्याजी ने भेजा है । इसे उन्हीं का बुलावा समझो, मां ! मुझे उनकी आस पूरी कर लेने दो । मुझे उनके ऋण से मुक्त हो जाने दो, मां !"

"कुछ विचार तो कर लेने दो, बेटी । पूछताछ तो करनी ही पड़ेगी !"

"यदि पूछताछ करनी ही है, तो मात्र इतना ही पूछो कि उनका अपना बगीचा है या नहीं । बस..."

"सिर्फ यही ?"

"हां, मां।"

"लड़का कैसा है..."

"मुझे कोई आपत्ति नहीं..."

"अंधा...बहरा...काना..."

मैं हंस पड़ी । बोली :

"कह दिया न मां, मैंने ! मैं मना नहीं करूंगी । शादी के लिए मैं बिलकुल भी लालायित नहीं हूं। परन्तु तात्याजी का ऋण है। उनका पुत्र, पुत्री, शिष्या सबकुछ मैं ही तो थी। उस ऋण की खातिर मुझे कोंकण जाना ही चाहिए। उस मिट्टी की सेवा करना मेरा धर्म बन जाता है। ईश्वर का भेजा यह रिश्ता मुझे उस मिट्टी तक पहुंचा देगा, मां ! इस संजोग से मुझे वंचित न करो ! और रही बात लड़का देखने की, तो क्या नानीजी ने, परनानीजी ने लड़का देखकर शादी की थी ? मुझे भी उसे देखने की आवश्यकता नहीं ।"

"क्या पागलों-सी बात करती हो, मनु ? वह समय और था। उस समय घर के सयाने लोग ही लड़का देखकर बात पक्की करते थे।"

"अच्छा, ! तो रिश्ता कौन लाया है ?"

"स्वयं मालकिन ! उनके रिश्ते में..."

"हम उन्हीं के आश्रय में रहते हैं, मां । वे ही हमारा छत्र हैं । जब रिश्ता वे ही लाईं हैं तो क्या वे हमारी सयानी नहीं हुईं ? अब यदि मेरी बात पूछो मां, तो मुझे कोई इन्कार नहीं ।"

मां निरुत्तर हो गईं । थोड़ी देर बाद उठीं और बंगले चली गईं। संध्या समय मालकिन ने मुझे आवाज़ लगाई :

"मनु बेटी, में जिस काम से आई हूं..."

"में जानती हूं।"

"तुम्हें कुछ कहना है..."

"मैंने तो मां से सबकुछ कह दिया है ।"

"क्या कहा है, बेटी ?"

"यही कि उनका अपना नारियल, सुपारी का बगीचा है, घर के आगे-पीछे आंगन है, आम-कटहल के पेड़ हैं, धान की खेती और अपना मकान है, तो मैं विवाह के लिए तैयार हूं ।"

"अरी, परन्तु..."

"लेकिन परन्तु कुछ नहीं, चाचीजी । जब रिश्ता आप लाईं हैं तो अन्य सबकुछ आपका देखा-सुना ही होगा । इससे अधिक कहने-सुनने के लिए मेरे पास बचता ही क्या है !"

मालकिन के साथ काकीजी भी आईं थीं । बोलीं :

"और मनु बेटी, यदि लड़के ने तुम्हें नापसन्द कर दिया तो ?"

"तो मैं जोर-जबरदस्ती उनके पीछे थोड़े ही लग जाने वाली हूं ! लेकिन यदि आप मेरी पसंद-नापसंद की बात जानना चाहती हैं तो मैं तैयार हूं ।"

हमारे रसोईघर में बैठ वे तीनों बहुत देर तक बातचीत करती रहीं । रात में दुर्गा आई । मेरा हाथ पकड़ मुझे बिस्तर पर बिठाया और पूछा :

"मनु, क्या सचमुच तुम लड़के को देखोगी नहीं ?"

"उसकी आवश्यकता ही क्या है ?"

गहरी सांस छोड़ती दुर्गा बोली :

"अपने ही रिश्तेदारों की निंदा तो नहीं करनी चाहिए, परन्तु..."

"बोलो, क्या बात है ?"

"मुझे अपनी वह कंजी आंखों वाली मौसी बिल्कुल अच्छी नहीं लगतीं। आंखें तो मेरी भी कंजी हैं, परन्तु उनकी आंखें तो एकदम बिल्ली जैसी हैं ।"

"मुझे तुम्हारी मौसी से शादी थोड़े ही करनी है ।" मैंने मुस्कराते हुए कहा ।

थोड़ी देर रुककर दुर्गा बोली :

"अब तो तुम्हें सबकुछ बताना ही पडेगा। बाबू एक-दो बार यहां आया था, कोंकण से। मुझे वह जरा भी नहीं भाया। जब-तब मेरे आगे-पीछे डोलता रहता था। बहुत बोलता था। जब देखो तब ही...ही...ही... करता रहता।"

मैं आंखें मूंदे कुछ देर बैठी रही। फिर दुर्गा के कंधे पर हाथ रख धीरे-से उसके कान में बोली :

"देखो दुर्गा, जब इस रिश्ते की बात सामने आई, और वह सुना कि रिश्ता कोंकण से आया है, तो उसी क्षण मेरी आंखों के सामने क्या तैर गया, पता है? मुझे लगा कि मैं बगीचे को सींच रही हूं, हर एक बंधी साफ कर रही हूं। पाट में चली जा रही हूं और निर्मल नीर मेरे पीछे-पीछे बहता चला आ रहा है। ज्ञानेश्वर ने तो इसका बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। वे कहते हैं, 'बगीचे के माली ने पाट के पानी को जहां ले जाना चाहा, वह चुपचाप वहीं चला आता है, जैसे बछड़ा अपने आप गाय के पीछे-पीछे चल देता है। जरा भी इधर-उधर नहीं भागता।' यह काव्यमय चित्र-दृश्य मैं वास्तविक रूप में देखने के लिए बेचैन हूं।"

सिर उसके कंधे पर रख मैं कुछ देर चुप रही। फिर बोली :

"वहां के लोग कैसे ही क्यों न हों, मैं सबसे निबाहने का प्रयत्न करूंगी। कोंकण तो तात्याजी के लिए यक्षभूमि थी। उनका स्वर्ग था। वही उनके लिए सबकुछ था। मेरे बाद यदि तात्याजी ने किसी से असीम स्नेह रखा हो तो वह है उनका प्रिय कोंकण। दुर्गा, मेरा अंतर्मन मुझसे बार-बार कहता है कि यह काया उस प्रिय भूमि को समर्पित कर दो। समस्त दैहिक कष्ट उसी भूमि के लिए हों। तात्याजी की परम पवित्र आत्मा उस कोंकण में अटक गई थी, सो इस काया का उसी मिट्टी में मिल जाना ही उचित होगा।"

मैंने प्रसन्न मन से आगे कहा :

"अब यदि पति के बारे में बोलना चाहूं, तो...तो वे सर्वगुण-संपन्न हैं, और..."

दुर्गा ने मुझे परे धकेल दिया। बोली :

"मरे के दांत बाहर को निकले हैं। जब देखो तब पान ठूंसता हुआ! और इतनी छोटी उमर में बीड़ी पीने की गंदी आदत।"

मैंने उसके कान में धीरे-से कहा :

"तुम बावली हो, दुर्गा! कुछ नहीं समझ पाओगी।"

सुनने में आया कि मालकिन ने पत्र लिखा था, सो 'वे' और सासजी दोनों आ रहे हैं। गाड़ी लेकर जब आडकूजी उन्हें लिवाने निकला तो मुझे चिढ़ाने के लिए बोला :

"आज मैं नौकर किसका हूं? कुछ पता है?"

"किसका?"

"अपनी मनुबाय का! उसी के लोगों को लाने जा रहा हूं।"

वह हंसने लगा। हंसते-हंसते एकदम गंभीर हो गया। आंखों में आंसू छलक आए। बोला :

"अपनी बेटी को ससुराल भेजते बखत भी मैं इतना दुःखी नहीं हुआ था, मनुबाय!"

फिर एकदम पलटकर गाड़ी में बैठ गया। लौटने पर बाहर से ही बोला :

"आ गए मेहमान।"

एक पल भी वहां नहीं रुका। बगैर कुछ बोले चलता बना।

दूसरे दिन मां बंगले से कुछ जल्दी ही लौट आईं। घर खोलने में मैंने मदद करनी चाही तो बोलीं :

"आज के दिन काम रहने दो, बेटी! बाल वगैरह संवार लो। संदूक में जो नई साड़ी रखी है, उसे पहन लो। दुर्गा को बुला लाऊं क्या?"

दुर्गा नहीं आई।

दोपहर में मेहमान आ पहुंचे। साथ में मालकिन और काकीजी। मां ने सबका स्वागत किया। मैं अंदर रसोई में बैठी थी। बाहर बात-चीत चल रही थी। बीच-बीच में पुरुष स्वर भी सुनाई दे रहा था। मैं मन को स्थिर रखने का प्रयास कर रही थी। 'उस' की सौगंध दे बार-बार समझा रही थी कि बुलावा आया है। स्वीकार कर। उच्छृंखल मत बन। विचलित मत हो। जहां तूने स्वयं को समर्पित कर रखा है वह

तो विश्वंभर का आश्रय-स्थान है। 'उस' का आदर तिलमात्र कम हो, ऐसा कुछ न करना। तात्याजी के शरीर का प्रत्येक अणु-रेणु जिसके दर्शन मात्र के लिए तरस गया था, उसी मातृभूमि का बुलावा आया है। चित्त को शांत, स्थिर रख। उसे स्वीकार कर!

मां अंदर आईं। मुझे इशारा किया। उनकी पलकों में आंसू उतर आए थे। यत्नपूर्वक उन्हें रोके हुए थीं।

एक बार फिर 'उस' का स्मरण किया। हाथ में सत्तू की कटोरियां लिए बाहर आई। सभी का चरणस्पर्श किया। फिर दीवार से लगकर खड़ी हो गई। नजरें जमीन पर गड़ी थीं।

सासजी का स्वर कानों में पड़ा :

"बेटी, क्या नाम है तुम्हारा?"

पलभर उन्हें देखा और कहा :

"मनोरमा गणपति खरे।"

काकीजी कुछ तेजी से बोलीं :

"अजी, नाम-वाम क्या पूछना? इससे ज्ञानेश्वरी सुनेंगी तो अपने-आपको भूल जाएंगी।"

सासजी बोलीं :

"वह तो ठीक है, लेकिन हमारे घर पोथी-पुराणों का कोई महत्व नहीं। वहां तो खूब काम करो, तब खाओ। मेरे जोड़ों में हमेशा दर्द रहता है, सो मुझसे कुछ होता नहीं। बाबू को अपने संगी-साथियों से फुर्सत नहीं। इसलिए काम-धाम आना तो आवश्यक ही है। क्यों बेटी, बीमारी से उठी हो क्या?"

मां ने बताया :

"इसकी देह ही ऐसी है। बचपन में बीमार रहती थी। अब बीमारी तो नहीं रही, पर दुबली-पतली ही रह गई। काम-धाम सब जानती है। घर यही सम्हालती है।"

बीच में ही वे बोले :

"और मौसी, तुम तो बता रही थीं कि आंखें बड़ी सुन्दर हैं, और..."

"तुम स्वयं देख लो।"

"अब कोई मेरी ओर देखे ही नहीं, तो क्या मैं अपने हाथों से चेहरा उठाकर देखूं?" इतना कहकर वह जोर-जोर से हंसने लगे। मां संकोच से गड़ गईं। कुछ ठहरकर बोलीं :

"ऊपर देखो, बेटी।"

मैंने सामने देखा और नजरें झुका लीं। काकीजी का पारा अब चढ़ने लगा था :

"अरे, वह कोई गाय-भैंस है क्या? क्या बात हुई? यहां देखो, वहां देखो!"

"देखो काकी, यहां दान-दहेज तो मिलने से रहा, इसलिए मिलने वाला माल कम-से-कम परखकर तो लेना ही होगा। ठोक-पीटकर आजमाना होगा। अच्छा, कुछ गाना-वाना भी जानती हो या नहीं?"

मैंने धीरे-से कहा :

"भजन-अभंग जानती हूं।"

"केवल भजन ही क्या ऽऽ! अच्छा ठीक है, एकाध सुनाओ।"

दीवार से टिककर खड़े-खड़े ही मैंने गाना शुरू किया। उसका भाव था :

"हे प्रभु! आपसे हमें सबकुछ मिल चुका है। अब मन में कोई दूजा भाव न आने देना।"

वे जमीन पर पालथी मारे सुन रहे थे। बीच में ही बोल पड़े :

"नहीं, नहींऽऽ! 'सर्व' के 'स' पर सम आनी चाहिए। ताल तो एकदम कच्चा है!"

सासजी ने उन्हें स्नेह से झिड़क दिया :

"बस कर रे, तेरी ताल और मात्रा!" फिर काकीजी की ओर मुड़ीं :

"इस काम में हमारा बाबू एकदम शेर है। देवी उत्सव में एक बार हमारे गांव में कोई बड़े गायक आए थे। नाम-धाम तो याद नहीं। बाबू ने तबले पर ऐसी संगत की कि उन्हें गाने ही न दिया। वे जैसे ही स्वर लगाते, बाबू एकदम शुरू हो जाता। अन्त में उन्होंने तंबूरा नीचे रख हाथ जोड़े और हार मान ली। साष्टांग दंडवत भी किया।"

वे ठहाका मारकर हंस पड़े। लगा, जैसे छप्पर उड़ जाएगा। फिर बोले :

"और मां, उसकी बात तो बताओ, जिसे ताल के आड़े जंगल में ऐसा पछाड़ा था कि फिर हमारे गांव की तरफ आने का साहस ही नहीं किया उसने। ऐसा छठी का दूध..."

मालकिन को यह सब अटपटा लगा। वे बीच में ही बोल पड़ीं :

"वह सब बाद में बताते रहना। पूरी जिन्दगी पड़ी है। जिस काम से हम आए हैं, पहले उसकी बात करो।"

उन्होंने सासजी की ओर देखा तो वे बोलीं :

"बात ऐसी है...क्या नाम है आपका...कि कोंकण में लड़कियों की कोई कमी तो है नहीं। हमारा अच्छा खाता-पीता घर है। इकलौता बेटा। बाग-बगीचा। लोग तो पीछे पड़े हैं कि जो चाहे मांगो और हमारी बेटी को अपना लो। परन्तु हमारी श्रद्धा तो जीजी पर है। उनकी चिट्ठी आई और इसीलिए आपकी लड़की देखने चले आए। विवाह तो किसी का रुकता नहीं। समय आने पर हो ही जाता है। इस लड़की से भी असुंदर लड़कियों का विवाह हो जाता है। बाल-बच्चे भी हो जाते हैं। कहीं कुछ रुकता नहीं। हां, तो बाबू, तुम बोलो ?"

"हां, बच्चे तो हो ही जाते हैं। कहीं-कहीं तो जुड़वां भी। अपने रघु को ही देखो। पिछले साल शादी हुई और इस साल एकदम जुड़वां!"

"उसकी नहीं पूछ रही हूं मैं। तेरा राग तो दूसरा ही है! हां, तो मैं क्या कह रही थी कि...अब हम दुर्गा के विवाह तक यहीं रुकने वाले हैं। औरों की सलाह भी लेनी पड़ेगी। वैसे कोंकण में भी दो-चार लड़कियां देखी हैं, जो पसंद आएगी उसे चुनेंगे।"

अबतक कटोरियां खाली हो गई थीं। मैं बर्तन समेटने लगी तो वे बोले :

"यानी, चाय की व्यवस्था नहीं ?"

सासजी ने आंखों से इशारा किया। सब लोग निकल पड़े। 'वे' तो बार-बार मेरी ओर ही देख रहे थे। बाहर निकलने पर भी मुड़-मुड़कर

देखते रहे। मां उन्हें आंगन तक छोड़कर लौटीं। अत्यन्त म्लान मन से मुझसे पूछा :

"क्या विचार है, मनो बेटी ?"

मैंने धीमे-से हंसते हुए कहा :

"तुम क्या कहती हो, मां ?"

"मैं क्या कहूंगी, बेटी ?" फिर दीवार से टिककर मां रोने लगीं।

सांझ ढले दुर्गा क्या घर आई, जैसे तूफान आया हो। मां तुलसी के चौबारे पर दिया जला रही थीं। मेरे पास बैठती दुर्गा बोली :

"हो गया समारंभ ?"

मैंने गर्दन हिलाकर हामी भर दी। उसने मुझे झकझोरते हुए पूछा :

"गर्दन हिलाने से काम नहीं बनेगा। बाबू को देखा तुमने ?"

मैं हल्के-से हंस पड़ी।

"हंसती क्या हो मनु ? बोलो! देखा उसे ?" दुर्गा ने पूछा।

"नहीं।"

"क्यों ?"

"आवश्यकता ही नहीं थी।"

"होशियार मत बनो! क्या आवश्यकता नहीं थी ?"

"ऊंऽहूं!"

"उसके बगैर वे तुम्हारी पसंद-नापसंद कैसे समझे ?"

"मैंने तो पहले ही कह दिया था कि बात पक्की कर दो।"

"क्या बात पक्की कर दो ? वह तो अव्वल दर्जे का बेशरम है। वहां आया और 'ही ही' करते हुए बोला, एक जनानखाना ही खोल दूंगा। आंखें सुंदर हैं, इसलिए 'ये' लड़की। रंग गोरा है इसलिए गांव के चूड़ी वाले की 'सुन्दरी'। गदराए बदन की रावश्या मछुवारे की 'बाबी'। नित नई सेज, निर्लज्ज! मैं तो उसे अपने सामने खड़ा भी न रहने देती। खूब पिटाई करती।"

मैं चुपचाप बैठी रही। थोड़ी देर बाद दुर्गा स्नेह से बोली :

"मेरी यही एक बात मान लो, मनु! इस रिश्ते से इन्कार कर दो। मैं 'उनसे' कहकर तुम्हारे लिए अच्छा-सा रिश्ता ढूंढ़ लूंगी।"

इतने में मालकिन की आवाज आई। वे हमारे घर आई थीं।

"क्या हो रहा है, मनु की मां?"

मां जल्दी से उनके सामने पहुंच गईं। बोलीं:

"तुलसी के चौबारे पर दिया जला रही थी। आइए, बैठिए न!"

मां ने रसोई में उनके लिए आसन बिछा दिया। उनकी बातें बाहर वाले कमरे में सुनाई दे रही थीं।

"अच्छा खाता-पीता घर है। इकलौता बेटा है। मन्नतों से मांगा। लाड़-प्यार कुछ अधिक हो जाने से थोड़ा-सा हठी स्वभाव का है, बस! ब्याह हो जाने पर अपने-आप सुधर जाएगा। उसकी आदत सुधर जाए, इसी प्रयास में हूं मैं। दोनों की कुंडलियां भी अनुकूल हैं। पंडितजी बताते हैं।"

दुर्गा ने सुना तो क्रोध से भर उठी। पैर पटकती अपनी मां के सामने जा खड़ी हुई। दोनों हाथ कमर पर रख उसने पूछा:

"तुम्हारा भतीजा सुधर जाय, इसलिए मनु की बलि चढ़ाई जा रही है!"

"मेरा भतीजा क्या तुम्हारा कुछ नहीं लगता?" मालकिन के स्वर में आश्चर्य का पुट था।

"मेरा बस चलता तो हंटर से पीठ छील देती उसकी। जनानखाना खोलने चला है निर्लज्ज!"

"अरी, वह तो मजाक था। कोई सच बात थोड़े ही थी।"

"यह भी कोई मजाक हुआ, मां? जानलेवा?"

"ऐसा कुछ नहीं होता! शादी होने तक होता है, किसी-किसी का ऐसा आचरण। परन्तु एक बार गृहस्थी की नकेल पड़ गई तो सब सीधे हो जाते हैं। और वह तो पुरुष है।"

"एक बात पूछूं, मां?"

"अब और क्या पूछना है?"

"यदि मनु तुम्हारी बेटी होती, तो क्या यह रिश्ता स्वीकार कर लेती तुम?"

मैं दरवाजे पर जा खड़ी हुई। मालकिन आश्चर्य भरे नेत्रों से दुर्गा को देख रही थीं। दुर्गा ने दृढ़तापूर्वक अपनी बात जारी रखी:

"अच्छा, उसकी बात जाने दो, मां। जहां मेरा विवाह कर रही हो, यदि वे लोग ऐसे होते तो क्या..."

मालकिन का साथ मां ने दिया:

"उनके घर लड़की देना या न देना, यह तो बाद की बात है, दुर्गा बेटी! इकलौती संतान, लाड़-प्यार में पली, फिर घर में कोई आचरण, व्यवहार पर ध्यान देने वाला नहीं रहा होगा। और जो गरजते हैं वे बरसते कहां हैं? मैं तो कहूंगी कि कुढ़ने वालों से तो मुंह पर साफ-साफ बोलने वाले भले!"

"क्या वह सिर्फ बातें ही करता है? वह जो बीड़ी पीना? मुंह से तो इतनी बदबू आती रहती है कि बस्स्! और खी-खी कर हंसना? लड़कियों के आगे-पीछे लार टपकाते डोलते रहना! निर्लज्जों की तरह कहीं भी, कुछ भी बक देना?..."

मालकिन का स्वर शिथिल पड़ गया। बोलीं:

"मैं आई हूं रिश्ता जोड़ने, और तुम चली हो बिगाड़ने!"

दुर्गा निर्णायक स्वर में बोली:

"मैं कुछ नहीं जानती। लेकिन मैं मनु का विवाह उससे कदापि न होने दूंगी!"

"और यदि इन्होंने यहीं बात पक्की करनी चाही तब?"

"तब? तब..."

उसी पल मैं आगे आ गई। बोली:

"क्या इस बात को लेकर लड़ना-झगड़ना जरूरी है, दुर्गा?"

वह मेरी ओर मुड़ी:

"लड़ने-झगड़ने का भी एक समय होता है मनु! यदि अवसर चूक गए तो कुछ हाथ नहीं आएगा..."

मैंने स्नेह से परन्तु दृढ़ता से समझाया:

"दुर्गा, मेरे लिए तुम्हारे हृदय में जो भाव हैं, क्या मैं उन्हें जानती नहीं? तुम्हारी मां भी तो किसी लड़की की ही मां हैं। वे भी किसी की

लड़की हैं। हम दोनों तो संसार-सागर के किनारे खड़ी हैं, परन्तु वे तो स्वयं उसमें उतरी हुई हैं। उनकी बातें उनके अनुभवों का निचोड़ हैं। तुम मेरी मानो, बीच में न बोलो।"

दुर्गा ने क्षुब्ध हो कर कहा :

"अरे, तुम लोग ऐसे दो बेमेल लोगों का मेल करवाने में जुट गए हो, जो सर्वथा भिन्न प्रकृति और गुणों वाले हैं..."

फिर मेरे पास आकर पूछने लगी :

"यानी इसका अर्थ हुआ कि..."

"क्या ?"

"कि आंखों पर पट्टी बांधकर तुम अंधे कुएं में कूदना चाहती हो। हां, यदि बाबू को देखा ही नहीं होता..."

"ऐसा क्यों सोचती हो, दुर्गा ! विवाह के बाजार में किस बलबूते पर खड़ी रह पाऊंगी मैं ? जरा सोचो। रूप का अभाव, धन का अभाव और गुणों का भी अभाव !"

ढेर-सा दर्द उभर आया दुर्गा के चेहरे पर। मैंने गंभीर स्वर में आगे कहा :

"यदि यह सब भी मेरे पास होता, तो भी मैं इस रिश्ते को आंख मूंद-कर स्वीकार कर लेती..."

"यह कोई विवाह के रिश्ते भर की बात नहीं है। यह मेरे तात्याजी का भिजवाया संदेशा है, दुर्गा। जन्मभूमि से आई स्नेहिल पुकार है। उसे प्रत्युत्तर मिलना ही चाहिए। यदि इसे न स्वीकारा तो जन्म ही व्यर्थ है। यदि इसे अस्वीकार कर दिया तो यह बात मुझे आजन्म कचोटती रहेगी। इसलिए यदि ब्याह कर कहीं जाना है, तो यही वह स्थान है, रिश्ता है। वर्ना..."

"वर्ना क्या ? बोलो !"

हंसकर जवाब दिया :

"वर्ना आजीवन दासी बनकर तुम्हारी सेवा करूंगी। दादा मुझे दो जून रोटी अवश्य खिला देंगे !"

हताश दुर्गा मेरी ओर एकटक देखती रही।

बात पक्की हो गई।

३१/

विवाह की तैयारी के लिए हमारे पास था ही क्या ? फिर भी मां थोड़ा-बहुत जुटाकर तैयारी में लग गईं। विवाह का मुहूर्त वही, स्थान भी वही, जहां दुर्गा का विवाह होने वाला था। दुर्गा मुझसे बोली :

"तुम्हारी एक बात मैंने मान ली है, अब जो मैं कहूंगी, उसे मानना पड़ेगा। जो मैं पहनाऊंगी वही पहनना होगा। समझी ?"

मैंने चुपचाप सब सुन लिया। उसने शहर से साड़ियां मंगवाईं और मेरे सामने अंबार लगा दिया, चुनने के लिए। मैंने कहा :

"मेरी पसंद-नापसंद क्यों पूछ रही हो दुर्गा ? मैंने तो पहले ही कह दिया था कि मैं चुप रहूंगी। इस मृण्मयी गुड़िया को तुम जैसे चाहो, सजाओ !"

उसने चार अच्छी साड़ियां मेरे लिए चुन लीं। सुनार से चार सोने की चूड़ियां और एक अंगूठी मेरे नाप की बनवा लीं। सासजी ने देखा तो बोलीं :

"इस सबकी क्या आवश्यकता है, दुर्गा ? तुम्हारी यह निर्धन सहेली जिस हाल में है, उसी हाल में हम अपनाने के लिए तैयार हैं। और उस देहात में दिखाना ही किसे है यह साज-सिंगार ? हमारा बाबू तो इकलौता है। एकाध बहन भी नहीं, जो ये जेवर चार दिन पहन सके !"

दुर्गा कुछ न बोली। केवल मौसी की ओर देखती रही।

एक शाम 'वे' हमारे घर आए। दरवाजे पर खड़े रहे। मां ने झांककर पूछा :

"कौन ?"

"मैं हूं।"

मां कुछ हड़बड़ा-सी गईं। बोलीं :

"अन्दर आइए न ?"

"नहीं, घूमने निकला था..."

"इतनी देर गए ? किसी को साथ ले लिया होता ?"

"वही तो मैं कह रहा था। क्या कर रही है ? भेज दीजिए साथ में !"

मां एकदम चौंक-सी गईं। दो पल रुककर बोलीं :

"वह...वह तो काम में लगी है।"

आगे क्या बोलें, यह मां को सूझा ही नहीं। चुपचाप खड़ी रहीं। वह अधीर हो गए। बोले :

"तो आ रही है न ?"

मां धीरे-से अटक-अटककर बोलीं :

"उसे...उसे यह बात पसंद नहीं आएगी।"

उनकी आवाज एकदम ऊंची हो गई :

"सुनाई दे रहा है क्या ? हम यहां खड़े हैं।"

उन्हें सुनाई दे सके इतनी आवाज़ में मां ने कहा :

"वह...नहीं आ सकेगी।"

इस पर वह पैर पटकते निकल गए। दूसरे दिन पता चला कि अपनी मां के सामने उन्होंने बड़ा हंगामा मचाया। कहा :

"घूमने साथ नहीं आ सकती ? चली जाए...! मुझे नहीं करनी यह शादी। मैं कुंवारा ही भला हूं!"

फिर सासजी ने बड़ी देर तक समझाया।

बंगले के पीछे एक बहुत बड़ा और सुंदर बगीचा था। दुर्गा की बारात का जनवासा वहीं था। मेहमानों के लिए सुंदर गद्दे, तकिये, गलीचे आदि बिछाए गए थे। सारी सुविधाएं थीं। अमरावती से खास रसोइये बुलवाए गए थे। खूब आवभगत हो रही थी। मेरा घर से बाहर निकलना भी अब बंद हो गया था। मां ने मना कर दिया था।

समझ नहीं पा रही थी कि जो निर्णय मैंने किया है उसका परिणाम क्या होगा, शुभ या अशुभ ? कुछ पता नहीं। मां, दुर्गा और आडकूजी की बात न मानकर इस प्रवाह में कूद गई थी। उस पार क्या है, कोई अंदाजा नहीं। प्रवाह से पूर्णतया अनभिज्ञ! कहां खड्ड! कहां भंवर! क्या होगा ? अनिश्चित-सी स्थिति।

'उससे' हाथ जोड़कर विनती की। मैं चकरा गई हूं! कुछ सूझता नहीं। बुद्धि भ्रमित हो गई है। तुम तो कितनों के सहायक बने हो! मेरी भी सहायता करो। मुझे मेरी राह स्पष्ट रूप से दिखा देना!

आडकूजी आया। बहुत देर तक बैठा रहा, लेकिन एक शब्द भी न

बोला। फिर उठकर चला गया। मां ने तुलसी के पास दीप जलाया। रसोई में एक छोटी-सी बत्ती जलाकर वे बंगले में चली गईं। मैं निश्चल बैठी रही। जहां बैठी थी, वहां दिया जलाने का भी मन नहीं हुआ। मन चेतनाहीन-सा हो गया था। उसे जागृत रखने का भरसक प्रयत्न कर रही थी। परन्तु कहीं सफलता मिलने की संभावना नहीं दीखती थी। इतने में बाहर से आवाज आई :

"घर में कोई है भी या नहीं ?"

दादा! आंखों में आंसू छलछला आए। उन्हें पोंछ जल्दी से बाहर निकली।

"आइए न, दादा!"

"क्या मैं बिल्ला हूं, जो अंधेरे में भी देख सकूं!"

मैंने झट दिया जलाया। दादा अंदर आए। श्वेत, रेशमी किनारे वाली धोती। उस पर शाल लपेटे हुए। मैंने कहा :

"बिलकुल ठीक समय से आए हैं आप, दादा! आपको कहां बिठाऊं ? क्या करूं ?"

"क्यों ? पिछली बार मेरे लिए जो सिंहासन रखा था, वह कहां गया ?" मैं देखती रही तो बोले :

"...अच्छा रहने दो, यहीं बैठक पर बैठ जाता हूं।"

वे बैठक पर बैठ गए। वहीं पास में टाट का पुराना तकिया पड़ा था, उसे गोद में रख लिया। तकिये पर दोनों कोहनियां रख मेरी ओर देखने लगे। मैं देहरी पर बैठ गई।

"आप कब आए, यह पूछना व्यर्थ ही है, क्योंकि आपके स्वागत में बजे बैंड-बाजे ने आपके आगमन की सूचना दे दी थी। बैलगाड़ियां, तांगे, छकड़ों की तो कतार लग गई थी। और रही नाश्ते की बात, सो आप तो खूब पकवान खाकर ही आए होंगे। वहां बने व्यंजनों की सुगंध यहां तक आ गई थी। और..."

"अच्छा, तो इसका मतलब आज मुझे भूखे ही जाना पड़ेगा ?"

मैं उत्साह से बोली :

"आप सचमुच कुछ खाएंगे, दादा ?"

"तो और क्या ? हमारे साथ बारात में हमारी डाक्टर मौसी भी आई हैं। यह है अगहन। भूख तो खूब लगती है। पर मौसी को डर है कि मैं कहीं कुछ अधिक खा गया और बीमार पड़ गया तो मुश्किल होगी। इसलिए जब भी मैं खाने बैठता हूं, वे सामने बैठ जाती हैं। उनका शासन शुरू हो जाता है। यह खाओ, वह मत खाओ। और अपना भी सिद्धान्त है कि स्त्रियों का भरपूर आदर किया जाय, सो उनकी बात मान लेता हूं।"

"आप ? और स्त्रियों का आदर...?"

"क्यों, कोई शक है क्या ?"

"बस-बस रहने दें! जिस लड़की से जान न पहचान, उसकी आंखों का चित्र बनाएंगे, क्यों ?"

हंसते-हंसते हम दोनों के पेट में बल पड़ गए। फिर उन्होंने खाने के लिए मांगा।

"मां ने गुझिया बनाई हैं। चलेंगी ? पर गुड़ में बनी हैं ?"

"जरूर चलेंगी।"

तश्तरी में तीन-चार गुझिया और थोड़ी-सी चटनी लाकर सामने रख दी। दादा ने एक गुझिया उठाई और खाने लगे। फिर पूछा :

"अच्छा, अब बोलिए, यह सब क्या हो रहा है ?"

"किस बारे में ?"

"मैं क्या पूछ रहा हूं, यह आप अच्छी तरह जानती हैं।"

मैंने सारी बातें कह डालीं। कुछ न छिपाया। हृदय में संचित सारा उंडेल डाला।

"अब आप ही न्याय करें। जों कहेंगे, मान लूंगी।"

इतनी देर वे अपलक मुझे देखते रहे और मेरी बात बड़े ध्यान से सुनते रहे। फिर एक लम्बी सांस भरकर बोले :

"देखिए, आपने जो निर्णय लिया है, वह अच्छा है या बुरा, यह बताने की योग्यता मुझमें नहीं है। तात्याजी से आपका स्नेह जो है, वह अतुलनीय है। ईश्वर के प्रति आपके हृदय में गहरी निष्ठा है। रही बात पुरुषों के बारे में, तो उनके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। आप जैसी श्रद्धा-

वान, ईश्वर-चरणों में लीन पत्नी जिसके भाग्य में लिखी हो, वह मनुष्य तो सुधरना ही चाहिए। और यदि न सुधरा, तो यह उसका परम दुर्भाग्य ही होगा, और कुछ नहीं। इससे अधिक क्या कहूं !"

भरे गले से मैं बोली :

"मैं तर गई, दादा ! जो मैं करने जा रही हूं वह सही है या गलत, इसे मैं समझ नहीं पा रही थी। अब मैं सम्हल गई हूं।"

"तथास्तु।"

"अब मैं निश्चित होकर आने वाली परिस्थितियों का सामना कर पाऊंगी !"

"अवश्य ! ईश्वर आपका भला करे ! और यदि कुछ विपरीत हो तो उसे सहने की क्षमता आपमें निश्चित रूप से है।"

मैं उठी। आंसू पोंछ डाले। उन्हें झुककर प्रणाम किया। वह बोले :

"उम्र में बड़ा हूं। आशीर्वाद तो देना ही होगा। कैसा आशीर्वाद चाहोगी ?"

"यही कि मेरा मन जहां समर्पित है, वहीं स्थिर रहे !"

"तथास्तु !"

विवाह का मुहूर्त सुबह का निकला था। दोनों वेदियां पास-पास ही बनी थीं।

वरमाला गले में डाली। पलभर के लिए उन्हें देखा। एक बार जिसे अपना कहा, उसमें भला कोई मीन-मेख निकालता है ? अपने ही शरीर का एक अंग है वह। मंगल-गीत समाप्त हुआ। अब अन्य रस्में चल रही थीं। होम-हवन आदि के लिए हम बैठ गए। एक ओर दादा तथा दुर्गा बैठे हवन कर रहे थे, तो दूसरी ओर हम दोनों। दुर्गा का ध्यान हमलोगों की ही ओर था। एक बार तो उसने काकीजी से इन्हें कह भिजवाया कि जरा ढंग से बैठें। इतने मेहमानों के होते यों चिपटना शोभा नहीं देता। इसका परिणाम उल्टा ही हुआ। मैं मन-ही-मन संत ज्ञानेश्वर के वचन, "जीवन के सुख-दुख को शांति से स्वीकार करो" को दोहरा रही थी।

अमरावती से बैंड बुलवाया गया था। सौ-पचास गैस बत्तियां। एक

पूरी बैलगाड़ी तो पटाखों से भरी थी। नए जोड़ों की शोभायात्रा पूरे गांव की प्रदक्षिणा कर, मन्दिर में दर्शन कर वापस लौटने वाली थी। फूलों से मोटर खूब सजी थी। दुर्गा का आग्रह था कि हम दोनों भी उसी मोटर में बैठें, पर इजारदार ने डांट पिलायी। बोले :

"कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली ? बहुत सुन ली अबतक तुम्हारी, दुर्गा !"

हमारे लिए आडकूजी की बैलगाड़ी सजाई गई। आडकूजी तो खुशी से झूम उठा। उसने बैलों के गले में घुंघरुओं की नई मालाएं डालीं। पीठ पर झूलने वाली रंगीन झूल चढ़ाई, नए कपड़े की बनी। सींगों में रंग पुतवाया। बैलों को सजाया। गाड़ी में नीचे पुआल बिछाया। उस पर गद्दा डाला। ऊपर सुन्दर, नई चादर बिछाई। गाड़ी को पुष्पों की मालाओंसे सजाया। शोभायात्रा घर से निकलते-निकलते शाम हो गई। हमारे साथ गाड़ी में बैठने वाला हमारे घर से तो कोई न था। सिर्फ वे और मैं ! बाकी भीड़ तथा सारी बत्तियां मोटर के साथ ! आडकूजी ही एक बत्ती वाले को हमारी गाड़ी के साथ चलने के लिए पकड़ लाए। वह बत्ती भी बार-बार भभक रही थी और लगता था कि बस अब बुझ जाएगी।

गांव-खेड़े का वह ऊबड़-खाबड़ कच्चा रास्ता। बैलगाड़ी हिचकोले खाती चल रही थी। कहीं बड़ा पत्थर पहिये के नीचे आ जाता तो एक ओर झुक-सी जाती। हिचकोलों के बहाने वे बार-बार मुझसे लिपट जाते। भींच लेते। मैं संकोचवश सिमट जाती। अपना मुंह एकदम पास ले आते। दुर्गंध सही न जाती। क्या करूं ? किसकी गोद में छिप जाऊं ? जिस आश्रय को स्वीकार किया है, यदि उसकी चादर छोटी पड़ गई तो मेरी जैसी अभागिन और कौन हो सकती है। मेरा ठिकाना भी और कहां होगा ?

दापुरा तो एकदम देहात है। अपने-आप बन पड़े रास्ते। जगह-जगह मुड़ने वाले। दोनों ओर बने मकानों के बीच जो जगह खाली है, वही रास्ता। ऐसे दो रास्ते जहां एक-दूसरे को काटते हों, वही चौराहा !

एक चौराहे पर शोभायात्रा रुकी। इजारदारों के दामाद तो सारे

गांव के दामाद हुए। महिलाओं ने उनकी आरती उतारी। काजल का टीका भी लगाया। दादा ने हर एक की थाली में चांदी का एक-एक रुपया डाला, फिर आतिशबाजी शुरू हो गई। विविध प्रकार के पटाखे, फुलझड़ियां, अनार, चक्र ! गांव वाले आश्चर्य तथा कौतूहल से देखते रहे। पूरा गांव वहीं जमा हो गया।

अचानक वह कराहने लगे। गाड़ी में लेट गए। मुझे कसकर पकड़ लिया। मैं घबरा गई। आडकूजी ने चौंककर पूछा तो बोले :

"पेट में भयंकर दर्द हो रहा है..."

आडकूजी पास आया,

"डाक्टरनी बाई हैं यहीं पर ! बुलाऊं उन्हें ?"

"नहीं, मैं घर चला जाता हूं। तुम गाड़ी मत लौटाना, अच्छा नहीं लगेगा।"

मैं नीचे उतरी। हाथ पकड़ उन्हें भी उतारा। वे कांप रहे थे। आडकूजी बोला :

"मैं आता हूं साथ में !"

उसे चार कदम साथ आने दिया और गाड़ी खाली होने का बहाना कर वापस लौटा दिया। रास्तेभर मेरे कंधे पर सिर टिकाए चलते रहे। बंगले के पास पहुंचे तो मैंने कहा,

"हमारे घर चलिए।"

"मां होंगी न घर में ?"

"हां...वे सेंक देंगी..."

"नहीं, बंगले ही चलो।"

उनका हाथ पकड़कर बंगले की सीढ़ियां चढ़ीं। दरवाजे पर चौकीदार ने चिंतित होकर पूछा :

"का भया, मनुबाई ?"

"पेट में दर्द है।"

"हरे राम ! खाने-पीने में कुछ गड़बड़ी भई का ? लिटा दो, सेंक-वेंक..."

बंगले में मां-बेटे को जो कमरा मिला था, उसी में उन्हें ले गई।

बिस्तर बिछाकर लिटाया। लालटेन जलाई। अब उठकर जाने लगी तो पूछा :

"कहां जा रही हो ?"

"सेंकने के लिए कुछ लाती हूं।"

"उसकी कोई जरूरत नहीं है। इधर आओ।"

लौटकर बिस्तर के पास जा खड़ी हुई। अचानक वे चीते की तरह छलांग मारकर उठे। दरवाजे खिड़कियां बंद कर लीं। बत्ती जरा मद्धिम कर दी। मेरे पास आए। बांह पकड़कर बोले :

"कैसा रहा नाटक ? वहां शोभायात्रा अपनी पूरी मस्ती में है। पटाखे फूट रहे हैं और यहां..."

कैसे बताऊं ? मेरा शरीर पसीने से लथपथ हो गया।

कुछ होश ही न रहा कि क्या हो रहा है ! शरीर तो शायद प्रतिकार ही कर रहा था, पर शक्ति जवाब दे गई।

क्या था मेरे कल्पना-विश्व में ?

एक मोरपंखी अलौकिक स्पर्श। अछूता-सा स्पर्श करती सांस ! फिर धीरे-से पंखुड़ियां खोलती कली। अपना एक-एक अंग ढीला छोड़ती हुई। धीरे-से आलिंगन में समाती। 'उस' में इस प्रकार एकाकार हो जाती कि दूजे का भाव ही नहीं। परम मिलन की दिव्य सुगंध फैल जाती।

परन्तु 'वह' कल्पनानुसार नहीं आया। इस वेश में आया। विरोध करते मन को बार-बार समझाया कि यह भी उसीका रूप है !

यह तो समझ में आया कि वे सन्तुष्ट नहीं हो पाए। उपयुक्त स्वागत नहीं हो पाया। परन्तु मैं क्या करूं ? बिना किसी पूर्वसूचना या प्रस्ताव के जबरदस्ती सब छीन लिया।

हताश होकर मैं एक ओर जा बैठी। रुलाई फूट रही थी। परन्तु मुंह कैसे खोलूं ? मुंह में पल्लू ठूंस लिया।

थोड़ी देर में उठी, अपने आपको सम्हाला, कपड़े ठीक किए और उनके पास पहुंची। पैरों में लेट गई। आंसुओं से उनके पैर भिगो दिए। बार-बार वे पैरों को खींच रहे थे, फिर भी मैंने पैर छोड़े नहीं।

फिर वहां से उठी। आंसू भरे नेत्रों से उन्हें निहारा और कहा,

"एक बात पूछूं ?"

वे क्रोधित स्वर में बोले :

"क्या ?"

"और कुछ नहीं, अपने बगीचे के बारे में...क्या सचमुच वहां नारियल, सुपारी के पेड़ हैं ?"

३२/

कल दापोरा छोड़कर जाना है।

काकीजी ने बहुत समझाया, विनती की, तब कहीं सासजी ने आधे घंटे के लिए मां के पास जाने की अनुमति दी।

जैसे ही मां को पता चला, वे घर की ओर दौड़ पड़ीं। वहां पहुंचने पर मैंने देखा, वे दीवार के सहारे खड़ी होकर रो रही थीं। मैं उनके पास गई। उन्हें सीने तन से लगा लिया। पीठ पर हाथ फेरती रही। वे व्यथित स्वर में बोलीं :

"कैसे कटेंगे तेरे दिन, बेटी।"

"दिन तो सभी के कट जाते हैं, मां ! समय किसी के लिए रुकता नहीं। तुम मेरी चिन्ता मत..."

तेज स्वर में मां बोलीं :

"कैसे कसाई के हाथों सौंप दी अपनी बिटिया ?"

मैंने मां के होठों पर हथेली रख कर कहा :

"उन्हें दोष मत दो, मां ! क्या अब वे तुम्हारे पुत्र समान नहीं हैं ? क्या तुम्हें मुझपर विश्वास नहीं ? और क्या तात्याजी पर भी नहीं ? वे तो सबकुछ ऊपर से देख रहे हैं। मैं उनकी गरिमा कभी कम न होने दूंगी—इतना तो विश्वास रखो, मां, मुझपर !"

बड़ी देर तक हम दोनों एक-दूसरे से लिपटे रहे। फिर मैंने पूछा :

"तुम यहीं रहोगी क्या ?"

मां ने गर्दन हिलाकर हामी भर दी। फिर बोलीं :

"अब तो एक ही इच्छा है, बेटी, जहां उनका दहन हुआ, वहीं यह देह भी मिट्टी में मिल जाय !"

न जाने कैसा-कैसा हो आया मन मेरा।

"सुनती हूं, घर में बगीचा है। खेती-बाड़ी है, दस-बीस नारियल के पेड़ हैं। अपना होते हुए भी मुझे इतना अधिकार नहीं मां कि तुम्हें आराम करने के लिए दो-चार दिन बुला सकूं।"

मां ने आंसू पोंछे। बोली :

"मेरी चिन्ता मत करो, मनु ! मेरी चिन्ता ईश्वर करेगा। तुम ससुराल जा रही हो, लेकिन तुम्हें यहां की याद बनी रहे—ऐसा देने लायक मेरे पास कुछ भी नहीं..."

"ऐसा क्यों कहती हो, मां ? यह काया ? सभी जिसकी प्रशंसा करते हैं, वे आंखें ? अच्छा, उसे रहने दो। यदि तुम 'हां' करो तो तात्याजी की 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'तुकारामगाथा' ले जाने का मन है।"

मां ने मेरी ओर देखा। मैं समझ गई और पुस्तकों के आले की ओर बढ़ी। एकदम हिचकियां बंध गईं। ज्ञान का कितना बड़ा भंडार। जब भी मन उदास होता, कोई भी पुस्तक लेकर बैठ जाती थी। उसमें खो जाती थी। मन का बोझ हलका हो जाता था।

मेरी अवस्था पानी बिन मीन-सी हो रही थी। इस अमृत सागर से मैं उतना ही ले जा सकती हूं, जितना चोंच में समाए। अन्त में 'ज्ञानेश्वरी' और 'तुकारामगाथा' निकाली। दुर्गा ने सुंदर कढ़ाई किया जो कपड़ा दिया था, उसमें दोनों को लपेटा। ठाकुरजी को नमन किया। मां के चरणों में माथा टेका। उनके आलिंगन से बाहर निकल आंगन में आई। निबौरी की चोटी पर दो बंदर बैठे थे। एक की गोद में नन्हा बच्चा था, मानो सभी विदाई दे रहे हों !

स्टेशन छोड़ने आडकूजी आया था। ठेठ के टिकट उसी के प्रयत्नों से मिले थे। हम तीनों एक जगह बैठे गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। आडकूजी बहुत बेचैन-सा लग रहा था। जैसे ही गाड़ी आई, हम तीनों उठ खड़े हुए। आडकूजी दौड़ता हुआ आया। "मनु बेटीऽऽ" कहकर मुझे अपने अंक में भींच लिया। दुःखी स्वर में बोला :

"इत्ती-सी थी, तब दापोरा कौन ले गया था ? मैं ही न ! और आज सुहागन बनी, तब भी मैं ही आया हूं विदा करने। अकेला ! जी कितना अकुलाता है बेटी, फिर कब भेंट होगी ? कब आओगी ?"

तभी सासजी तेज स्वर में चीखीं :

"अब बन्द करो यह नाटक ! जवान लड़की को भींचते लाज नहीं आती ?"

आडकूजी एकदम छिटककर दूर खड़ा हो गया। सासजी की ओर देखता रहा। हमलोग गाड़ी में बैठ गए। थोड़ी देर बाद गाड़ी चली तो बेचारा फिर दौड़ता हुआ आया। खिड़की पकड़ साथ-साथ दौड़ने लगा। मैंने कहा :

"खिड़की छोड़ दो, आडकूजी ! सभी से मेरा नमस्कार कहना। मां का तुम ध्यान रखना !"

गाड़ी की गति तेज होती गई।

मैं आंखें बन्द किए बैठी थी, परन्तु कान बन्द रखना असम्भव था। सबकुछ सुनाई दे रहा था :

मरे हजारों अंड़गे लगा रहे थे ब्याह में। बोलते थे, होने ही न देंगे शादी, किसी भी हालत में।

अब बोलो ! मेरे घर बहू आई जानकर मरों की छाती पर सांप लोटेगा।

यह हड्डियों का ढांचा किस काम का ?

तेरी तो खिचड़ी अलग ही पकती है ! अरे, सबको दिखाने के लिए तो हो गई न।

ओस चाटे प्यास नहीं बुझती !

रहने दे। घर का काम-काज करेगी।

काम-काज के लिए तो किसी अच्छी महरी को चुना होता !

बंद आंखों के सामने छाया अंधेरा अधिक गहरा हो गया। लगा,

अंधेरी खाई में चक्कर खाकर गिरती चली जा रही हूं। लगा, अब ऐसे ही दम घुटता रहेगा।

एकदम सजग हो गई। कोई स्टेशन था। तुम्बी बजाता एक भिखारी गा रहा था,

"ईश्वर जिस दशा में रखे, उसी में रहो। मन में संतोष रखो।" उस भजन ने मुझे तार दिया। उसकी तुम्बी के सहारे जैसे भवसागर पार करने की शक्ति मिल गई। अब मैं कभी दुखी नहीं होऊंगी। पछतावा तो कभी नहीं। मैंने तो सारा भार 'उस' पर डाल दिया है। उसीके चरणों में गृहस्थी अर्पित कर दी है।

मन हल्का हुआ तो आंखें खोल दीं। चारों ओर देखा। मेरे पास एक औरत बैठी थी। उसकी गोद में एक नन्हा-सा बच्चा था। बड़ा ही प्यारा, गोल-मटोल। अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से टुकुर-टुकुर चारों ओर देख रहा था। मैंने हाथ बढ़ाया तो झट गोद में आ गया। उससे खेलने लगी।

"दूसरे का बच्चा क्यों ले लिया गोद में ?" सासजी ने तीखी आवाज में कहा।

मैंने अनसुनी कर दी। बच्चे के साथ खेलती रही। गाड़ी किसी स्टेशन के बाहर रुकी थी। बार-बार सीटी बज रही थी। सीटी की आवाज सुनकर बच्चा खिलखिलाकर हंस पड़ता। कुछ समय बाद गाड़ी चल पड़ी। दुबारा रुकी तो पता चला मूर्तिजापूर स्टेशन है। किसी के कुछ कहने से पहले ही मैं उठी और सामान डिब्बे से निकालने लगी। बम्बई जाने वाली गाड़ी दूसरे प्लेटफार्म पर आने वाली थी। कोई आधा घंटा बाकी था। मैंने संदूक तथा बिस्तरा उठाया और चलने लगी। सीढ़ियां चढ़कर निर्धारित प्लेटफार्म पर उतरे। इन्होंने मेरे हाथ से संदूक लेकर नीचे रखा और उसपर बैठ गए। उन्हें परे ढकेलती सासजी बोलीं :

"उफ, मैं तो थक गई ! घटिया गाड़ी, घटिया देस !"

सामान की चौकीदारी करती मैं वहीं खड़ी रही। इन्होंने जेब से बीड़ी का बंडल निकाला। एक बीड़ी सुलगाई और मेरे मुंह पर धुंआ छोड़ दिया। मैंने आंखें बंद कर लीं। आंखें खोलीं तो आश्चर्य ! दादा और दुर्गा

हमें ढूंढते हुए हमारी ही ओर आ रहे थे। कैसी सुंदर जोड़ी ! दादा रेशम की किनारेदार धोती के ऊपर शाल ओढ़े हुए थे। दुर्गा नई साड़ी तथा गहनों में खूब जंच रही थी। मैंने धीरे से पूछा :

"यहां कैसे ?"

दादा इनकी ओर मुड़कर बोले :

"अकोला में चाचाजी के यहां रुका था चार दिन। आज आप लोग यहां होंगे, इसका आभास था। इसीलिए सुबह की गाड़ी से हम निकल पड़े। सोचा, फिर न जाने कब भेंट हो। विवाह की आपाधापी में बातचीत भी नहीं हो पाई। आप भी व्यस्त, हम भी व्यस्त !"

दादा प्रसन्न थे। अपने चेहरे पर छाई उदासी को मैंने भरसक दबाया। इधर-उधर की बातें होती रहीं। दादा तो इन्हीं से बातें करते रहे, जैसे मैं वहां हू ही नहीं !

फिर जेब में हाथ डालकर कुछ टटोलने लगे। बोले :

"अरे ! मेरे सिगरेट के पैकेट कहां गए ? क्यों दुर्गा ! निकलते समय तो मैंने रखे थे ? बहन को ब्याहा है तो जीजाजी की खातिरदारी करनी ही पड़ेगी। लगता है, भूल आया हूं। अच्छा, बगल वाले प्लेटफार्म से अभी ले आता हूं।"

"अपनी इस बहन का भला चाहते हैं, तो केवल सिगरेट की घूस काफी नही है।" अपने मजाक पर वे स्वयं ही खुश हुए और ताली के लिए दादा की ओर हाथ बढ़ाया। दादा स्थिर रहे तो बोले :

"आप क्यों कष्ट करेंगे ? मैं ही ले आता हूं। गाड़ी चलने में अभी समय है।"

दादा ने दस रुपए का नोट निकाला। उसे झट से लेकर वह सीढ़ियों की ओर चल दिए।

यह देख दुर्गा को दादा ने शायद कोई इशारा किया। वह सासजी से सटकर बातें करने लगी। दादा ने कहा :

"इतनी ही खास बात है, तो दूर जाकर दिल खोलकर बता दो, ताकि हमें सुनाई न दे। मनु और मैं सामान की देखभाल कर लेंगे।"

दुर्गा ने एकबारगी प्यार भरे गुस्से से देखा और सासजी को लेकर दूर चली गई। दादा अब प्रसन्न थे। बोले :

"यही है दुनियादारी। किसी से दो शब्द भी बोलने हों तो घूस दो या झूठी प्रशंसा करो। खैर, जाने भी दीजिए। सारी लाज-शर्म छोड़ कुछ कहने जा रहा हूं। 'उस' रात की बात के बाद भी आप अपने निश्चय पर दृढ़ हैं, यह जानकर मन विस्मित है। सच तो यह है कि स्त्री की सहनशीलता निस्सीम होती है।

"आपसे कुछ आवश्यक बातें करनी थीं, इसीलिए मिलने आया। एक तो आप मां की बिल्कुल चिन्ता न करें। उनकी जिम्मेदारी मुझपर छोड़ दें। दूसरे, तात्याजी की सारी पुस्तकें मैं अपने गांव ले जाऊंगा। एक बड़ी अलमारी और वे पुस्तकें वहां के सार्वजनिक पुस्तकालय को भेंट कर दूंगा। अलमारी पर तात्याजी का नाम भी लिखवा दूंगा।

"अब आपसे एक वचन लेना है। अपना पता दे रहा हूं। ईश्वर न करे, कभी ऐसा समय आए कि आप किसी विपत्ति में घिर जाएं, या और कोई आवश्यकता हो तो मुझे न भूलिएगा।"

मैं चुपचाप गर्दन झुकाए आंसू बहाती रही। वे दूर से सीढ़ियां उतरते दिखाई दिए। दादा ने मेरे हाथ में पता रखा और जल्दी से बोले :

"बोलिए, पत्र लिखेंगी न ?"

मैंने धीरे-से कहा :

"लिखूंगी, दादा।"

थोड़ी देर बाद वे आ पहुंचे। बड़े प्रसन्न नजर आ रहे थे। आते ही बोले :

"देखिये हमारे कोंकण में यह ब्रांड मिलता नहीं, सो पूरा, बड़ावाला पैकेट ही उठा लाया हूं। आठ आने कम पड़े, पर सोचा, उतने के लिए दुबारा आपके पास मांगने आना...समझ रहे हैं न आप ? तो मैंने ही दे डाले ! अरे ! आप रहने दें। अब आप हैं कि मानते ही नहीं !"

३३/

कितना बड़ा है बम्बई ! जैसे मायासुर की नगरी ! अनगिनत मुख, लाखों नेत्र और असंख्य हाथ-पैर ! गाड़ी से उतरे, एक बड़ी-सी बग्घी में जा बैठे। बहुत-से रास्ते, चौराहे पार कर बग्घी एक विशाल इमारत के सामने जा रुकी। मुझे मालूम न था कि यहां उतरना है, सो सुनना पड़ा, बग्घी दहेज में मिली है क्या ? उतरो अब ! सामान उतरवाया। देखा, उस बड़ी चार मंजिली इमारत में पचासों परिवार बसे हुए थे। कई पुरानी बदरंग सीढ़ियां चढ़कर हम चौथी मंजिल पर इनके एक रिश्तेदार के घर पहुंचे। दिन भर लोग 'नई बहू' को देखने आते रहे। वे सिगरेट का धुंआ उड़ाते कहते रहे :

"अब बोलो ! ले ही आया अपने चरणों की दासी आखिर !"

न जाने कितनी स्त्रियां मुझे देखकर चली गईं। सासजी कह रही थीं :

"किसी का कुछ रुकता नहीं। बाबू का विवाह तो हो ही गया, और बहू भी कोई ऐसी-वैसी नहीं, ज्ञानेश्वरी पढ़ने वाली है।" फिर मुझसे बोलीं :

"दिखाओ अपना ग्रंथ। शरमाओ मत। मैं जो कह रही हूं ?"

मैंने ग्रंथ निकालकर बाहर रख दिया। मुखपृष्ठ पर छपा ज्ञानेश्वर महाराज का चित्र देखकर सबने मेरी योग्यता और ज्ञान पर विश्वास कर लिया। उस परिवार के वृद्ध गृहस्थ बोले :

"अब आप आई हैं तो कुछ दिन रुक जाएं। दो-एक दिन में बहू का एक प्रवचन रखवा देते हैं।" लेकिन सासजी नहीं मानीं। कहने लगीं :

"अब अधिक रुकना संभव नहीं। घर में वह अकेले हैं। लौटना बहुत आवश्यक है, और वह भी तुरन्त !"

अगले दिन फिर बग्घी में बैठ पत्तन पहुंचे। यात्रियों के लिए बनी

जगह एक पिंजड़े जैसी थी। वहीं जाकर हम बैठ गए। वे टिकट खरीदने गए थे। लौटने पर झल्लाकर बोले :

"जहाज बिगड़ा पड़ा है। जब बनेगा तब छूटेगा।"

पिंजड़े के उस ओर से समुद्री हवा के झोंके आ रहे थे। जहां मैं बैठी थी, वहां से केवल यही जान पड़ता था कि जहाजों का आवागमन हो रहा है। दिखाई कुछ भी न देता था। ये तो अक्सर सलाखों के पास जा खड़े होते। निरन्तर सिगरेट पी रहे थे। सासजी लेटकर आराम करने लगीं। कई बार मन हुआ कि मैं सलाखों के पास जाकर खड़ी हो जाऊं, सागर के दर्शन करूं। उस विश्व को देखूं! परन्तु साहस न हुआ। मन-ही-मन पठन करती वहीं बैठी रही।

अचानक जोर से भोंपू बजा। मैं एकदम हड़बड़ा गई। सासजी भी नींद से जाग गईं। बोलीं :

"क्या हुआ ?"

मुझे हड़बड़ाया देख उन्हें बहुत हंसी आ रही थी। कहने लगे :

"ओ मां! ज्ञानेश्वरी एककदम डर गई। गोवा जाने वाले जहाज का भोंपू बजा था, उससे!" फिर हंसते हुए ही बोले, "पोथी-पुराणों के बखान में तो कहती होगी कि फलां युद्ध ऐसे हुआ और फलां युद्ध वैसे हुआ!"

"अरे पुराणों की बात पुराणों में ही रहने दे।" इतना कहकर वे फिर सो गईं।

दिन भर बैठे-बैठे जी ऊब गया था। शाम होते ही एक हलचल-सी मच गई उस पिंजड़े में! सभी अपना-अपना सामान समेटने-बटोरने लगे। कुलियों की भाग-दौड़ शुरू हो गई। अंत में पिंजड़े का दरवाजा खुला। सारी भीड़ दरवाजे से निकलने के लिए एकदम दौड़ पड़ी। सासजी आगे थीं। उनके पीछे संदूक उठाए मैं और मेरे पीछे वे। इंसानों की बाढ़ में जैसे अपने आप बहते चले जा रहे हों। कितनों के धक्के सहने पड़े। साथ में इनकी हजार बातें सुननी पड़ीं। हम कहां जा रहे हैं, इसका मुझे कुछ पता न था। आस-पास के लोगों के पसीने की दुर्गन्ध आ रही थी। जब भीड़ से थोड़ा हटे तो मालूम पड़ा हम जहाज पर पहुंच गए हैं। इन्होंने

झट से दरी बिछाई। पास ही अन्य लोग भी आकर बैठ गए। कुली सामान लेकर दौड़े चले जा रहे थे। दरी पर से कितने ही लोग चलकर निकल गए। शायद जहाज की यात्रा का यही रिवाज रहा हो।

थोड़ी देर बाद लोगों की भाग-दौड़ कम हुई। कुछ शान्ति हुई, क्योंकि सभी को जगह मिल गई थी। वातावरण कुछ स्थिर हुआ।

इन्हें भूख लग आई थी। खाना निकाला। सासजी का उपवास था। मैंने थोड़ा-सा खाया, परन्तु इन्होंने भरपेट खाना खाया। बोले :

"यात्रा में समुद्री हवा से तकलीफ होगी। अगर उल्टियां शुरू हो गईं तो बेहाल हो जाऊंगा, इसलिए कुछ अधिक ही खा लिया।"

खाना खाकर इन्होंने अंगोछे से सिर बांध लिया और लेट गए। खारी हवा से शायद सासजी को भी तकलीफ होती थी। इसलिए वे भी लेटी रहीं। मुझसे बोलीं :

"तुम क्यों नहीं लेटती ?"

"थोड़ी देर बैठना चाहती हूं।" मैंने धीरे-से कहा।

उन दोनों के बीच बैठकर चारों ओर देखा। जहाज का जंगला पर्दे से ढका था। लोग-बाग खाना खाकर लेट गए थे। इतनी देर तक जो लोग जगह पाने के लिए आपस में लड़-झगड़ रहे थे, वे भी एक-दूसरे से सटे सो रहे थे। अलग-अलग जगह से आए सारे यात्री, न इनकी जात एक, न धर्म एक। पहले से कोई जान-पहचान तक नहीं, फिर भी इस समय सारे जैसे एकरूप, एकाकार, हो गए थे।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि प्रलयकाल में समस्त जीव मेरे आश्रय में आ जाते हैं। यह जहाज भी भगवान का ही लघु रूप है। इन्हीं विचारों में मैं बड़ी देर तक खोई रही। टन्...टन् की आवाज़ आई, फिर धीरे-से भोंपू बजा और जहाज चल पड़ा। एक हलकी-सी थरथराहट महसूस हुई। थोड़ी देर बाद नाविक आए, उन्होंने जंगले से पर्दे हटा दिए।

ओह! कितना सुन्दर दृश्य! कितना अद्भुत, अविस्मरणीय! इस विश्व का रूप ही अनूठा है! वैसे तो जहाज में गति थी और किनारा स्थिर था। परन्तु जान पड़ता था कि जहाज स्थिर है और किनारे वाला जग-

मगाता विश्व पीछे सरकता जा रहा है। कितना आनंद! कितना रोमांच!

वे दोनों गहरी नींद में थे। मैं धीरे से उठी और जंगले के पास जा खड़ी हुई। बड़े-बड़े जहाज लंगर डाले खड़े थे। पानी में छिपी चट्टानों पर निशान, और ऊंची चट्टानों पर दीप-स्तंम्भ बने थे। निशानों से बचते, दीप-स्तंभ का लक्ष्य करते नाविक बड़ी सफाई से जहाज चला रहे थे। सामने से कोई जहाज आता दिखाई पड़ता तो मैं क्षण भर के लिए चौंक जाती, परन्तु नाविक अपना काम भली-भांति कर रहे थे। जहाज अपने ठीक रास्ते पर चला जा रहा था।

दीपनगरी बंबई, धीरे-धीरे आंखों से ओझल होने लगी। जहाज अब कोंकण की ओर बढ़ रहा था। अथाह जलराशि को चीरता हुआ।

सागर की ठंडी अल्हड़ हवाएं मेरा आंचल उड़ा रही थीं। मुझसे बार-बार लिपट पड़तीं। मेरी काया रोमांचित हो उठी। यह ठंडी हवा तात्याजी की यक्षभूमि का निमंत्रण लाई थी। मातृभूमि कोंकण की वह थर-थराती पुकार थी। मेरे पुरखों की भूमि। उसी मिट्टी में हमारी कितनी ही पीढ़ियां जन्मीं, पलीं। वहीं उनके विवाह हुए और उसी मिट्टी में उनके वंश-वृक्ष फले-फूले। कितने ही आनंदोत्सव मनाए गए होंगे इसी मिट्टी में! गाना-बजाना हुआ होगा। मंदिरों की यात्राओं में अपने कंधे पर पालकी उठाकर भगवान की मूर्ति की शोभा-यात्रा निकाली होगी? उस आनंद भरे वातावरण में मगन हो सब नाचे होंगे, इसी भूमि में कई मनमुटाव हुए होंगे। फिर एक हुए होंगे। यहीं के पानी से असंख्य झाड़ों-बेलों को सींचकर जीवन-दान दिया होगा। बगीचे लगाए होंगे। गीत गुन-गुनाते हुए सींचा होगा नारियल-सुपारी के पेड़ों को, पाटों से बहते निर्मल पानी से। यहीं आने वाली पीढ़ी को जन्म दिया होगा। अपने जाये के लिए अपार कष्ट उठाए होंगे, नारियल-सुपारी की छांह में। आजीवन कष्ट उठाते-उठाते एक दिन उसी मिट्टी में समाए होंगे, चिरकाल के लिए।

यह मात्र हवा का झोंका नहीं है। यह तो उन सबकी सांसों से बना सुन्दर वितान है। यह तो घने जंगल में खोई बछिया को दी गई आर्त पुकार है। इसी पुकार की आस में 'हाय कोंकण, हाय कोंकण' करते

तात्याजी ने प्राण त्याग दिए। अंतिम क्षणों में भी शायद इस पुकार ने उन्हें घेर लिया होगा। पलभर के लिए उनकी देह थरथरायी होगी। प्राण भी सरलता से न निकले होंगे। अंतिम क्षणों में इसी मिट्टी की सुगंध उनके चारों ओर लिपटी होगी।

यही वह हवा है। मैंने लंबी सांस खींचकर जैसे उसे आत्मसात करने का प्रयत्न किया। वह मेरे रोम-रोम में समा गई। मेरी काया को पुल-कित कर गई। फिर उसने अंतर्मन में छिपे आंसुओं की उंगली पकड़ी। उन्हें साथ ले वह पलकों से होती गालों पर उतर आई। मेरा आंचल भिगो गई।

तात्याजी मेरे गुरु थे। आचार्य थे वे मेरे। इस मिट्टी के लोंदे के वे शिल्पकार थे। उन्होंने इसे अपार कष्ट सहकर मूर्ति में परिवर्तित किया। इसलिए उनके अधूरे स्वप्नों को पूरा करना मेरा कर्त्तव्य बन जाता है। उसे निभाने ही उस यक्षभूमि की ओर चल पड़ी हूं।

अब मैं पीछे नहीं हटूंगी। किसी भी स्थिति में इस भूमि का त्याग नहीं करूंगी। बड़े-से-बड़ा मोह भी मुझे अपने ध्येय से अलग नहीं कर सकेगा। ओ, मेरी कोंकण भूमि, तुझसे कभी न बिछड़ने का मैं वचन देती हूं।

सासजी जग गईं थी। उठ बैठीं। आंखें मलते हुए मुझे आवाज दी,

"अरी, ओ बहू ...कहां हो ऽ?"

मैं विचारों में खोई थी। होश आया तो लौटकर सासजी के पास जा बैठी। धीरे-से कहा:

"सागर देख रही थी।"

"क्यों? पहले कभी देखा नहीं क्या? और अब तो जीवन भर देखना ही है। मुझे लगा कि मैं पानी में गिर गई।"

वे फिर लेट गईं। साहस बटोरकर मैंने पूछा,

"नींद नहीं आ रही है। फिर वहीं जाकर खड़ी रहूं?"

"नींद क्यों नहीं आ रही है?"

"नया माहौल जो है!"

"तो फिर? अच्छी भली जवान हो! नींद न आने का कारण क्या है?"

"थोड़ी देर के लिए आज्ञा दें तो..."

"जा ! डूब मर समुन्दर में। मरी न तो आप सोएगी, न सोने देगी। जंगले से दूर ही खड़ी रहना। सटकर मत खड़ी रहना, समझी ?"

नींद में इनका हाथ मेरी गोद में आ गया था। उसे धीरे-से अलग किया। उठ खड़ी हुई। पलभर मेरा मन दोनों के प्रति कृतज्ञता से भर आया। सभी एक स्वभाव के कैसे हो सकते हैं ? फिर ये लोग तो एकदम ही देहात में पले हैं, वहीं के संस्कार इन्हें मिले हैं। कुछ खामियां होंगीं ही। मैं तो अपने मां-बाप की इकलौती संतान हूं लाड़ों में पली हूं। फिर सभी को तात्याजी जैसे मार्गदर्शक मिलें, ऐसा सबका भाग्य कहां ? अब यह जैसा भी है, उसे स्वीकारना ही श्रेयस्कर है। क्रोध करना उचित नहीं। इन लोगों से निबाहना ही होगा। और कोंकण का निमंत्रण भी मुझे इन्हीं के माध्यम से मिला है। इनके प्रति तो मुझे कृतज्ञ होना चाहिए। जो कुछ मेरे पास मेरा अपना है, उसे इन दोनों को समर्पित कर देना चाहिए।

जहाज अपनी गति से आगे बढ़ रहा था। आसपास के सभी लोग सो रहे थे। सागर में तो निरंतर हलचल थी, जबकि मेरा मन स्थिर हो गया था। मन-ही-मन अपने 'उस' को नमस्कार किया और फिर 'उस' की माया निहारती जंगले के पास खड़ी रही। क्षितिज पर फैले अंधकार का आनंद लेने लगी।

अचानक स्मरण हो आया :

"यह तो श्रीहरि की माया है, जो श्यामल तरंग बन इधर-उधर बिखरी हुई है।"

एक रोमांच-सा दौड़ गया देह में। यह कैसा चमत्कार है! ये पंक्तियां कभी पढ़ी हों, याद नहीं आया। कहीं सुनी भी नहीं थीं। फिर शब्दों-पंक्तियों की यह कतार मन-प्रांगण में कैसे उतर आई ? कहां से यह सब मुझे सूझा ? यह अमृतवाहिनी मन के द्वारे कैसे उतर आई ?

मैं बार-बार इन पंक्तियों को दोहराती रही। आगे क्या ? परन्तु इससे आगे कुछ उतरा ही नहीं। यहीं पूर्णविराम। शब्दों का झरना समाप्त हो गया। फिर लगा, कहीं यह अपौरुषेय तो नहीं ? कुछ याद

नहीं आया। वेदों की ऋचाएं ऋषियों के मन में ऐसे ही उभरी होंगी शायद !

इतने में कुछ हलकी-सी प्रकाश-किरणें सागर में उतर आईं। लहरों के साथ हिलोरे लेने लगीं। शायद शुक्ल पक्ष की अष्टमी थी उस दिन। चंद्रमा आकाश में उतरा था। लाखों दर्पणों में अपना रूप निहार रहा था। कितना अपूर्व दृश्य ? किसे दिखाऊं ? किसे जगाऊं ? सासजी को ? इनको ? दोनों नाराज होंगे।

जहाज पर कितने नाविक इधर-उधर घूम रहे थे। काम कर रहे थे। परन्तु इस अपूर्व दृश्य की ओर किसी का भी ध्यान नहीं था। उधर बेंच पर बैठे दो व्यक्ति झगड़े में व्यस्त थे। उन्हें दिखाने से क्या फायदा ? ऊपर कोई अधिकारी दूरबीन से किनारा देख रहा था। उसे इस दृश्य से कोई सरोकार ही नहीं जैसे। मैं ही इसका आनंद ले रही थी। संत ज्ञानेश्वर ने कितनी सुन्दर उपमा दी है :

"जलीं चंद्रकेचिया पसरसी वे ली।"

"मानो सागर में फैली हैं चमकीले रजत-पत्रों की असंख्य बेलें।"

सारे पत्ते एक-दूसरे से लिपटे हुए और एक का डंठल दूसरे में अटका हुआ। जैसे सारा कमल-वन हिलोरें ले रहा है और उसके पत्ते एक दूसरे के गले से लिपटे हों। एक-दूसरे का मानो आलिंगन कर रहे हों, चूम रहे हों ! और उस जलाशय में क्षणभर के लिए दर्शन देने वाली चमकीली मछलियां। जैसे वे एक पत्ते का संदेशा दूसरे पत्ते तक पहुंचाने में व्यस्त हों। इसकी एकमात्र साक्षी मैं हूं। सिर्फ मैं !

टन्...टन्...टन् घंटी बजी और जहाज़ की गति धीमी पड़ गई। पेड़ों की छांह में छिपा किनारा चांदनी के मद्धिम उजियारे में पास आता दिखाई दे रहा था। अब जहाज ने एक मोड़ लिया और लंगर डाल दिया। धीमे-धीमे पानी में डोलता रहा। इस बंदरगाह पर उतरने वाले यात्री जल्दी में थे।

किनारे पर एक जगह झाड़ी की ओट से सात-आठ बत्तियाँ दीख रही थीं। वही शायद बंदरगाह था। किनारे से जहाज तक दो छोटी नावें

आईं। उतरने वाले यात्री अपना सामान ले उन नावों में जा बैठे। फिर घंटी बजी। लंगर खुले और जहाज चल पड़ा।

मैं बहुत देर तक वहीं खड़ी रही। चंद्रमा अब और ऊपर आकाश में चढ़ गया था। सागर से दृष्टि हटती ही न थी। पैर दुखने लगे। हवा में ठंडक बढ़ गई थी। अंत में उठी और सासजी के पास जाकर सो गई। कोई पांच मिनट ही सो पाई कि यात्रियों की हलचल ने जगा दिया। जहाज रुकने वाला था। मैं उठ बैठी। सासजी भी उठ बैठीं और बोलीं:

"आ गया क्या बंदरगाह? अरे! ओ बाबू! बाबू, उठ न! उतरना नहीं है क्या?"

वे लेटे-लेटे ही घूमे और मां की गोद में हाथ रख दिया। उसे हटाती सासजी बोलीं:

"अब उठेगा भी या नहीं?"

वे आंखे खोलते हुए बोले:

"तुम हो क्या? मैं समझा..."

"बेहूदा कहीं का! चल उठ, बंदरगाह आ गया!"

वे अंगड़ाई लेते हुए उठे और सिगरेट के लिए जेबें टटोलने लगे। फिर हंसकर बोले:

"तुम्हारी उस दुर्गा के आदमी से दहेज में सिगरेट का एक बड़ा डिब्बा लेना चाहिए था। ये तो जल्दी ही खत्म हो जाएगी।"

मैंने उठकर दरी लपेटी और इंजन वाले कमरे की दीवार से टिक-कर खड़ी हो गई।

पूरब में अब उजियारा उभरने लगा था। उस प्रकाश में बंदरगाह भी दीख रहा था। चारों ओर ऊंचे-ऊंचे वृक्ष। वृक्षों की शोभा बढ़ाते बड़े-बड़े सुन्दर पत्ते। उनकी घनी छाया धरती पर बिखरी थी। धरती पर सजा यह अनुपम छत्र मैं जीवन में पहली बार देख रही थी। मैं तो उसमें खो गई। उन वृक्षों की घनी छाया में पला हरा-भरा केतकी का वन पूरे किनारे पर फैला था। उसी किनारे से सटी मछुआरों की झोपड़ियां। झोपड़ियों के सामने टंगे मछली पकड़ने के जाल। लंबी कतारों में खड़ी

नावें। लकड़ी से लपेटकर रखे पाल। नावों के बीच तैरती बत्तखें! सब-कुछ पानी के संग हिलोरे लेता हुआ!

बाईं ओर खड़ा जल-दुर्ग। आंधी-तूफानों से संघर्षरत। दुर्ग के तट, बुर्ज और उसके अंदर उगे नारियल के बाहर झांकते वृक्ष दूर ही से दिखाई दे रहे थे। दुर्ग से लगा धरती का एक नुकीला टुकड़ा सुदूर सागर में ऊंघ रहा था। कितना सुन्दर! जैसे कोई ऐतिहासिक चित्र ही चौखट में जड़ा हो।

"पागलों की तरह क्या खड़ी है? वह सामान कौन उठाएगा? बाप तेरा!"

सासजी का तीखा स्वर कानों में पड़ा तो हड़बड़ाकर होश में आई। फिर सन्दूक और बिस्तरा उठा लिया। बड़ी गठरी उठाने को लेकर मां-बेटे में झगड़ा हुआ। अंत में गठरी सासजी ने उठाई। अन्य यात्रियों के साथ हमलोग सीढ़ियां उतरकर नीचे आए। वहां बहुत भीड़ थी। खलासी चिल्ला रहे थे, परन्तु उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा था।

यात्रियों को बंदरगाह की ओर ले जाने वाली नावों के खलासी, जहाज के जंगले में बना दरवाजा खुलते ही अंदर घुस पड़े। किसी से कुछ पूछे बगैर ही सामान उठाकर नावों में भरने लगे। सामान लद जाने के बाद बारी आई यात्रियों की। मैंने झांककर देखा तो जिन नावों पर उतरना था, वे एक क्षण के लिए एकदम ऊंची उठ जाती तो दूसरे ही क्षण एकदम निचली सतह पर पहुंच जाती। जहाज से बंधे उनके मोटे रस्से भी कंपकंपा रहे थे। मेरे आगे सासजी थीं। एक खलासी ने उन्हें झट से उठाया और नाव में खड़े दूसरे खलासी को थमा दिया। अब मेरी बारी आई। एक पल में जहाज से नाव में। मेरे पीछे-पीछे वे उतरे। उतरने के प्रयास में गिर पड़े तो मुझे घुड़का,

"मरना है क्या? नीचे बैठ क्यों नहीं जाती?"

सासजी का सहारा ले एक पटरे पर बैठ गई। ललचाई आंखों से किनारे को देखती रही। नाव जहाज से कब अलग हुई, कब चल पड़ी और कब किनारा आया, कुछ पता ही नहीं चला। सारा चित्रदृश्य अब स्पष्ट दिखाई देने लगा, जैसे सभी स्वागत कर रहे थे, बुला रहे

थे। नारियल के बड़े-बड़े पत्ते हिलते हुए ऐसे लग रहे थे, जैसे मातृभूमि अपने शतशत करों से न्यौता देकर अपनी गोद में बुला रही हो।

जी भर आया। उस आंतरिक उफान को बड़े प्रयासों से दबाया।

अब चित्र स्थिर हो गया। एक हल्का-सा धक्का खाती नाव किनारे की रेत में धंसकर रुक गई। अब उतरने वालों की जल्दी। खलासी यात्रियों को कंधे पर उठाए किनारे तक छोड़ आते। मैंने यह टालना चाहा। एकदम पानी में कूद गई। साड़ी भीग गई, सो दो बातें सुननी पड़ीं। अपनी उस यक्षभूमि का प्रथम स्पर्श मुझे स्वयं महसूस करना था। पानी कुनकुना था। मैं कुछ क्षणों के लिए बचपन में लौट गई। पानी में खेलते-खेलते, धीरे-धीरे बढ़ती हुई किनारे तक पहुंची। वहां की गीली रेत अंजुरी में भर ली और खड़ी रही। वे तो बैलगाड़ी तय करने गए थे। सासजी सामान के पीछे चल दीं। किसी का मेरी ओर ध्यान नहीं, यह देखकर मैं घुटनों के बल बैठ गई। उस धरती को नमन किया। वहां की धूलि माथे पर लगाई। अपने तात्याजी की यक्षभूमि पर मेरा पहला कदम जो पड़ा था!

रास्ते के दोनों ओर आम, काजू और कोकम के घने वृक्ष थे। बीच रास्ते से हमारी गाड़ी शोर करती चली जा रही थी। मां-बेटे बातचीत में व्यस्त थे। किसके साथ कैसा व्यवहार करना है, किसे क्या बताना है आदि के बारे में चर्चा चल रही थी। मेरा अस्तित्व ही मानो भूल गए थे। परन्तु उनकी यह भूल उस समय वरदान प्रतीत हो रही थी।

एक छोटी-सी घाटी पार करके नीचे उतरने लगे तो माड़, नारियल और सुपारी के पेड़ों का घना वन दिखाई दिया। कुछ दूर चावल के छोटे-छोटे सुन्दर खेत! कहीं दालें खिली थीं तो कहीं दूसरे अनाज!

दूर लगता था, कोहरा छाया है। उस पार कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। परन्तु जो कुछ भी सामने था, वह इतना सुन्दर, इतना आकर्षक कि वर्णन से परे। एकबारगी मन हुआ दौड़कर इन पेड़ों को छूकर देखूं। आम, काजू के वृक्षों का स्पर्श करूं। परन्तु यह इच्छा मन में ही दबा दी। देखकर ही संतोष कर लिया।

एक तीखी ढलान पार करते ही सामने खाड़ी नजर आई। उसे देख

मैं दंग रह गई। खाड़ी के किनारे-किनारे एक चौड़ा रास्ता था। हमारी बैलगाड़ी कुछ देर उस रास्ते पर चलकर एक ओर मुड़ गई। आंजलि गांव अब दीखने लगा था। नारियल-सुपारी के वृक्षों की ओट से गांव ऐसा लग रहा था, जैसे कोई बच्चा अपनी छोटी-सी जीभ दिखाकर चिढ़ा रहा हो।

लाल धूल उड़ाती, घने वृक्षों की छांह से होती, गाड़ी चली जा रही थी। सासजी गाड़ीवाले से बोलीं :

"गाड़ी जरा रोकना, भाई। यहां गणेशजी का मंदिर है। वर-वधू दर्शन करेंगे।"

हम दोनों उतरे। पीछे से सासजी भी उतरीं। गाड़ी वाले को उन्होंने घर का रास्ता समझाया और गाड़ी ले जाकर घर के आगे खड़ी करने के लिए कहा।

आम, नारियल तथा अन्य वृक्षों की घनी छाया में, खपरैल से ढका छोटा-सा मंदिर। पास ही में एक कुंआ था। कुंए पर एक रहट था। उसे एक महिला चला रही थी। रहट से जो पानी निकल रहा था, वह नीचे एक हौज में भर रहा था। रहट चलाने वाली महिला गोरी तथा कंजी आंखों वाली थी। अपनी आंखों को सिकोड़कर बोली :

"ये तो सत्य काकू लौटी दीखे है?"

सासजी अकड़कर बोलीं :

"हां-हां! मैं ही हूं। अभी मरी नहीं, और साथ में लड़का और बहू हैं। समझी?"

"अरे वा ऽऽ। गई तो एकदम बाबू का ब्याह करके ही लौटी?"

"अरे, गांव वालों ने कितना भी अड़ंगा लगाया तो भी कुछ नहीं बिगड़ा। यह तो तकदीर की बात है। किसी का कुछ नहीं रुकता। और बहू भी कोई ऐसी-वैसी नहीं है, समझी! ज्ञानेश्वरी पढ़ना जानती है। देख ली, बहू! भर गया न जी!"

हम दोनों अन्दर गये। विघ्नहंता के दर्शन किए। सासजी तो मंदिर के अन्दर आई ही नहीं। दोनों हाथ कमर पर रक्खे जोर-जोर से बोलती, सभी को कोसती, मंदिर के बाहर ही खड़ी रहीं। मंदिर से निकलकर

देखा तो आसपास के बगीचों में कई गृहलक्ष्मियां सासजी का आह्वान सुन रही थीं और मुझे भी देख रही थीं ।

दोनों के पीछे-पीछे मैं चलती गई । खपरैल छाए एक घर के सामने हम रुके । लकवे से पीड़ित एक विकलांग वृद्ध ने दरवाजे से झांका । दाढ़ी बढ़ी हुई । एक मैला अंगोछा लपेटे । चेहरे पर अपार सहनशीलता का भाव ! निश्चय ही ये ससुरजी हैं । घर में प्रवेश किया । सर्वप्रथम ससुरजी के चरण स्पर्श कर प्रणाम किया । गहन आश्चर्य से वे मुझे देखते रहे । फिर एक अपराध भावना लिये दीवार से सट गए और बहुत धीरे-से, भरे गले से बुदबुदाए :

"यथेष्ट-कल्याण-मस्तु !"

मैं अपलक उन्हें ही देख रही थी । तभी सासजी की फटकार सुनाई दी :

"बिना दान-दहेज के ब्याह लाये हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि गुड़िया बनी खड़ी रहो । घर के पीछे पानी का पाट बह रहा है । नहाओ और तुरंत काम में जुट जाओ । यहां तुम्हारी मां नहीं है, जो थाली परोस कर रखेगी । चूल्हा सुलगाओ । हमें खिलाओ और खुद भी खा लो । दाल, चावल बनाना आता हो तो अहोभाग्य हमारे ! ज्ञानेश्वरी का पाठ करना और बात है, चूल्हे में सिर खपाना और बात !"

"हां ऽऽ ! ये ससुरजी ही हैं । न काम के न काज के, ढाई मन अनाज के ! दिन भर काम करो और शाम को बैठो उनके पास । चाहो तो अपनी सेवा-चाकरी करवा लेना । मैं जा रही हूं । बाहर बहुत सारे काम पड़े हैं ।"

फिर इनकी आवाज सुनाई पड़ी :

"मैं भी आ रहा हूं मां, तुम्हारे साथ, लेकिन पहले चाय पिलाओ ।"

"मांग अपनी मेनका-रंभा से चाय । और मेरे साथ तेरा क्या काम !"

"अरे, हां । तुम्हारे ठिकाने अलग, मेरे टेसन अलग ।"

"मरे ऽऽ ! अब भी इधर-उधर मुंह मारेगा ?"

"इस मामले में तुम अनाड़ी हो, मां ऽऽ ।

"चुप रह, निर्लज्ज कहीं का !"

फिर ससुरजी की ओर मुड़ीं :

"क्यों जी ? चाय-शक्कर कुछ बाकी छोड़ा भी है या सभी डकार गए ?"

ससुरजी धीरे से बुदबुदाए :

"चाय रखी है । शक्कर खत्म !"

"बाप रे बाप ! क्या रोज चाशनी बनाकर पीते थे ? सुना बाबू । चाय है, शक्कर नहीं । बन्दरगाह की दुकान से लाएगा तभी चाय बन पाएगी ।"

ये तो जैसे जाने का बहाना ही ढूंढ़ रहे थे । फौरन चप्पलें चटखाते चल दिये । सासजी ने मुंह धोया । बाल संवारे । फिर मुझे दोपहर तक खाना तैयार रखने का निर्देश देकर वे भी चली गईं ।

बड़ी देर तक उनकी बातें कानों में गूंजती रहीं । अब एक-एक बात स्पष्ट होने लगी । यहां के माहौल को समझने लगी । यह अनजाना घर-आंगन ! लगा था, नए घर में मेरा स्वागत होगा । पास-पड़ोस की चार महिलाएं होंगी । उनकी बहू-बेटियां होंगी । परन्तु गांव वालों से इनके संबंध सबकुछ समझा गए । किसी भी विपदा में मदद करने वाला यहां कोई नहीं । हम स्वयं ही अपने बंधु हैं, सखा-सहोदर हैं ।

थोड़ी देर बाद उठकर दूसरे कमरे में गई । वहां लकड़ी की एक बहुत बड़ी सन्दूकनुमा टंकी थी । जिसमें अनाज रखा जाता था । खूंटियों पर पुराने कपड़े लटके थे, घर के कोनों, छतों में मकड़ियों के जाले लटक रहे थे । रसोई में झांका तो जलता चूल्हा दिखाई दिया । पास ही गगरियों और कलशों की ऊंची मीनार । सबकुछ गंदा । धूल खाता । कोने में बड़ी-सी मथानी । आले पर मटमैले बरतन ।

घर के पिछवाड़े पहुंची तो मन प्रसन्नता से खिल उठा । अंदर की गंदगी को एकदम भूल-सी गई । पानी का बहुत बड़ा पाट बह रहा था । उसके चारों ओर झूमते अनेक वृक्ष ! पौधे ! लगा कि यहां कोई मन लगाकर काम करता है । इन्हें जतन से रखता है । न जाने कितने वृक्ष इसके गवाह थे ।

फिर ध्यान आया कि यह अवश्य ही ससुरजी की मेहनत का फल है ।

विकलांग होने से वे अधिक कुछ तो नहीं कर पाते होंगे। फिर भी यहां थोड़ा-बहुत काम जरूर करते होंगे। उनकी पेड़-पौधों पर श्रद्धा उनके रूप से प्रकट हो रही थी।

यहां माड़, नारियल के पेड़ हैं। सुपारी है। कटहल, आम हैं। कितने ही वृक्ष ऐसे हैं, जिन्हें मैं पहली बार देख रही थी। फूलों में हरसिंगार, गुड़हल, मोगरा, चम्पा और भी न जाने क्या-क्या? बगीचा खूब खिला हुआ था। किसी को अवकाश हो न हो, निसर्ग तो अपने क्रम से चलता ही रहता है। पाट का पानी बगीचे के प्रत्येक वृक्ष को सींचता हुआ दूसरे बगीचे में पहुंच रहा था। वहीं जाकर खड़ी हुई। मन में अपने आप शब्द झरने लगे:

"स्वच्छ जल में, खिले हैं कमल, सृष्टि तेजोमय हो गई है, गुनगुना रही है। झरने प्रसन्न। अविरल झर रहे हैं। खेतों में पक गया है धान, जिस पर ओस चमचमा रही है।"

मेरी यह 'साहित्यिक' पूजा थी। सृष्टि के चरणों में मैंने अपना प्रथम वाक्पुष्प अर्पित किया।

मैं विचारों में खो-सी गई थी। एकाएक लगा शायद ससुरजी आ रहे हैं। एक पैर घसीटते निर्जीव हाथ को सजीव हाथ में थामे वे वहां पहुंचे। मैंने उनकी ओर देखा तो वे कुछ नहीं बोले, परंतु उनके मलिन चेहरे पर अब प्रसन्नता के भाव स्पष्ट हो गये थे। मेरे निरीक्षण से वे प्रसन्न हुए थे, जो मैंने बगीचे में किया था।

इस अनजाने देस में मैं अकेली नहीं हूं, यह विश्वास हो गया। मेरा 'वह' मुझसे पहले यहां पहुंच गया था। ससुरजी के रूप में।

कुछ देर बाद अन्दर चली गई। साड़ी को कसकर बांधा और एक झाड़ू लेकर पूरा घर झाड़ डाला। रसोई, बीच वाला कमरा, बाहर का बरामदा, आंगन, सबकुछ बिलकुल चमका कर रख दिया। गोबर-मिट्टी से चूल्हे-चौके को लीपा। फिर नहायी। माथे पर रोली का टीका लगाया। पूजाघर में देखा तो भगवान की मूर्तियां उदास-सी लगीं। देवी की मूर्ति, कृष्ण कन्हैया, शिवलिंग, शंख आदि थे। उन सबको नहलाया। फूल चढ़ाए और कहा:

"आज के दिन मुझसे इतनी ही सेवा बन पड़ी है। हे प्रभो, क्रोध न करना। कृपा-दृष्टि रखना।"

ससुरजी तृप्त मन से सबकुछ देख रहे थे। मैंने देहरी पर खड़े होकर पूछा:

"दाल, चावल कहां रखा है?"

अंगोछे से आंखें पोंछते वे रसोई में आए: बोले:

"वहां ऊपर आले में डिब्बे हैं।"

सारा काम निबटाकर मैं पूजाघर में जा बैठी। थोड़ी देर बाद ससुरजी बगीचे से भाजी तोड़ लावे। उसे अन्दर रखते हुए मुझसे पूछा:

"काहे का पाठ कर रही हो?"

"ज्ञानेश्वरी का बारहवां अध्याय है।"

"किसने सिखाया?"

"तात्याजी ने—मेरे पिताजी ने।"

"वे कहां हैं?"

"वे अब नहीं हैं। मैं उनकी इकलौती संतान हूं। मां हैं।"

दुःखी मन से सिर पर हाथ धरे ससुरजी बैठे रहे। फिर पूछा:

"मायके का पूरा नाम?"

"मनोरमा। पिताजी का नाम गणपति खरे। यहीं दाभोल की खाड़ी के आसपास गांव है हमारा। मैं छोटी थी, तब वे यहां से मास्टर बनकर बरार में दापोरा गए थे। वहीं उनका देहान्त हो गया।"

"हरि-हरि!"

मैंने स्नेह से पूछा:

"आप कब से अस्वस्थ हैं?"

"दो बरस हुए। नसीब का फेर है, बेटी। भोगना ही पड़ता है।"

थोड़ी देर ठहरकर मैंने धीरे-से पूछा:

"एकाध पोस्टकार्ड मिलेगा क्या? मां को लिखूंगी।"

"कार्ड? कार्ड मिलना तो कठिन है। फिर भी देखता हूं।"

इतने में सासजी का स्वर कानों में पड़ा। किसी से कह रही थीं:

"तो ऽऽ ? मेरे घर आने से तुम्हारी टांगें तो न टूटेंगी ।"

ससुरजी एकदम गिरते-पड़ते उठे और पिछले दरवाजे से बगीचे की ओर अपनी पूरी गति से निकल गए। सासजी अंदर आईं। मुझे पाठ करते देख आगबबूला होकर गरज पड़ीं :

"अरी, ओ पुजारिन, भगवान का माथा पकड़े बैठी है, वहां रसोई कौन देखेगा ?"

मैंने उठते हुए कहा :

"दाल गल गई है। चावल अभी बन जायेंगे । भाजी को तड़का जीरे का दूं या राई का ?"

"अरे, वाह ! लाड़ली बहू के लिए भाजी भी तोड़ लाये क्या ? और आप किधर गए ? बाबू नहीं आया अभी तक ?"

वे और भी बहुत-कुछ बड़बड़ाती रहीं । फिर नहायीं और रसोई में आईं। तबतक मैंने दाल बघार ली थी। चावल पक रहे थे। भाजी छौंकी ।

"आते ही यहां-वहां छान मारा। कहां क्या रखा है, सब पता कर लिया ? मेरे आने तक रुक नहीं सकती थी ? क्यों ? भूख से जान निकली जा रही थी क्या ?"

मैं कुछ न बोली। इतने में वे आए। बोले :

"वाह ! क्या बघार लगा है ! सुगंध बिलकुल आंगन तक फैल आई है।"

"सुगंध क्यों नहीं फैलेगी भला ? आदमी डूब जाए, इतना तेल पड़े बघार में तो ? बिना तेल-घी के खाना बना सके तो मानूं इसे असली ज्ञानेश्वरी ! और तू तो सारे घरों में झांककर आया होगा ? कोलीवाड़े भी गया होगा ?"

"तुमने खाड़ी तक भेजा ही था शकर लाने, सो झांक आया।" वे ठहाका मारकर हंस पड़े ।

"बताए देती हूं, अब उधर..."

"बस भी करो, मां। मुझे कसकर भूख लगी है..."

"जबतक नहाएगा नहीं, कुछ नहीं मिलेगा ।"

पैर पटकते वे नहाने चल दिए। जैसे-तैसे नहाया। पुरानी धोती वहीं नहानी में फेंक, नई धोती पहनकर अंदर आए। सासजी के पल्लू से सिर पोंछने लगे। उन्हें धकेलती सासजी बोलीं :

"अब मेरे पल्लू से क्यों पोंछता है ? बिना दान-दहेज की बहू के पल्ले से पोंछ।"

"अभी ! इसी समय ? देखना, फिर कहोगी..."

"चुप, रे ! मरा इतना बेशऊर है कि पूछो मत !"

दोनों को खाना परोसा। रसोई को भला-बुरा कहते दोनों ने भरपेट खाया। भाजी बची ही नहीं । हाथ धोए और सासजी ने बीच वाले कमरे में दरी बिछाई । बोलीं :

"सुन, ससुर को खाना खिला देना। पहले ही सब मत डकार जाना।"

बगल वाला छोटा-सा कमरा बंद पड़ा था। इन्होंने उसे खोला। अंदर एक तखत बिछा था। उसे झटककर साफ किया । एक दरी बिछाई और लेट गए। सासजी को खर्राटे भरते देख वे चुपके-से रसोई के दरवाजे पर आ खड़े हुए। मुझे इशारों से बुलाने लगे। मैं उठी और हाथ बांधकर पिछवाड़े के दरवाजे से बाहर निकल गई । वे रसोई से होते हुए मेरी ओर बढ़े ही थे कि बाहर नौकरानी की आवाज सुनाई दी :

"नई बहूरानी । बर्तन खाली हो गए क्या ? लाओ, मांज दूं !"

ये क्रोध से पैर पटकते उल्टे पांव वापस लौट गए।

दोपहर ढलने को थी। मां-बेटा अभी भी सो रहे थे। ससुरजी का कोई पता न था। खाना ढका पड़ा था और मैं राह देख रही थी।

आज सुबह ही तो यहां पहुंची हूं। पूरा एक दिन भी अभी बीता नहीं । जिनसे थोड़ी पहचान है, वे सो रहे हैं। ससुरजी से तो अभी कोई खास पहचान नहीं । उन्हीं की बाट जोह रही हूं। भोजन तैयार है । मैंने ही बनाया है । भूख भी बहुत लगी है, परन्तु खा नहीं सकती । बार-बार बाहर झांककर देख लेती हूं। लेकिन बाहर है केवल पाट के बहते पानी की आवाज, पक्षियों का कलरव और कौवे की कांव-कांव । इसके अलावा कोई आवाज नहीं ।

अचानक याद आया कि इस माहौल से तो मैं पूर्व परिचित हूं । यहां

नया कुछ भी नहीं है। पिछले कई जन्मों से, इसी घर-आंगन में, यही सब करती आ रही हूं। यही वह स्थान है। वही घर के पीछे, पेड़ों से भरी, छोटी पहाड़ी। घर के निकट बहता पानी का पाट। केले-सुपारी के पेड़ों से भरा आंगन। उस पर घनी छाया फैलाते आम-कटहल के पेड़। घर के आगे-पीछे वही हरे-भरे समृद्ध बगीचे। मन को मोहने वाला पक्षियों का कलरव। वही हवा जो वृक्षों, बेलों को छूती हुई यहां तक पहुंच रही है। नारियल-सुपारी के ऊंचे वृक्षों को सहलाती है। यह परिचित घनी छाया। सब कुछ वही। यहीं, इसी आंगन में मैं पिछली बार, कई जन्मों से, जीवन बिताती आ रही हूं। यहीं बाट जोही! यहीं इसी दरवाजे पर बैठ, अपलक, इस अनूठे दृश्य को देखती चली आ रही हूं। कोई थकान नहीं। कोई आलस्य नहीं। कोई ऊब नहीं। एक काया जब पुरानी हो गई, जीर्ण हो गई तो हल्के से उतारकर एक ओर रख दी। जैसे वस्त्र त्याग दिये हों। फिर अपनों ने अपार दुःख से उस काया को कंधा दिया हो। आंसू पोंछते वे उसे ले जा रहे हों। मैं मुक्त दौड़ती जा रही हूं उनके संग! इस शोकनाट्य को देख रही हूं। मेरी काया को नदी किनारे रख दिया है। सूखी लकड़ियां कोई ले आया है। चिता रचाई। मेरी पार्थिव काया को उस पर रख दिया है। वही मिट्टी का ढेर!

धीरे से रखो!

अरे! कम-से-कम आंखों के सामने तो इतनी निर्दयता से उस पर लकड़ियां न रखो!

तुम उठकर दूर बैठो!

अरे, उसे कहां भेज रहे हो? अग्नि तो उसे ही देनी है!

हां, अब उठाओ वह जलती लकड़ी। चिता में जो घास रखी है, वहां अग्नि का स्पर्श कराओ। यह पानी का मटका कंधे पर रखो। पांच फेरे लगाओ। अब बंद मुट्ठी होठों पर रख...

यह सारा आनंदोत्सव मैंने स्वयं अपनी आंखों से अवकाश में तैरते हुए देखा है। फिर लौट पड़ी हूं। नारियल-सुपारी के पेड़ों के ऊंचे शिखरों से होती हुई, आम-कटहल के वृक्षों के साथ खेलती हुई! मैंने यहां कितने ही दिन उगते देखे हैं। कितनी ही चांदनी रातों की मैं साक्षी

हूं। मुझे प्रतीक्षा है, एक नए जन्म की! नए रूप की!

फिर वही जच्चा का अंधेरा कमरा। अंदर खाट पर पड़ी कोई अर्ध-चैतन्य आसन्न-प्रसवा नए मेहमान के आगमन की प्रतीक्षा में है। दर्द की एक हल्की लकीर उसके पेट में उठी है। संभवतः वही मेरा नया स्थान है! वहीं मेरा जन्म निश्चित किया गया है। फिर मैं उस अंध-कूप में कूद पड़ी हूं। हर व्यवधान को पारकर अपने गंतव्य पर पहुंच गई हूं। सो गई हूं। फिर एक गहरी वेदना का हाथ पकड़ कोख से बाहर आ गई हूं! रो रही हूं...

अचानक किसी के आने की आहट हुई। उठकर देखा तो ससुरजी बाहर दीवार से सटे खड़े थे। मुझे देखते ही उनके चेहरे पर दीनता भरी प्रसन्नता झलकी। अंगोछे से एक मुड़ा हुआ पोस्टकार्ड निकालकर मुझे दिया। बोले :

"यहां नहीं मिल सका। आंजर्ले तक जाना पड़ा।"

देर शाम को दोनों सोकर उठे। सासजी ने ससुरजी को बहुत भला-बुरा कहा। दोपहर में कहां गए थे, पूछा। वे चुप रहे। यदि वे कार्ड वाली बात बताते तो निश्चित ही हम दोनों की खैरियत नहीं थी!

मुझे चाय बनाने का आदेश दिया। दोनों ने चाय पी। रात के खाने में क्या बनाना है, इसका भी आदेश दिया। मनमाना तेल-घी खर्च न करने की बात भी अपने तीखे शब्दों में समझाकर सास, बाहर निकल पड़ीं। वे भी निकल पड़े।

मैंने झाड़ू-बुहारी का काम निपटाया। फिर बगीचे में पहुंच गई। देखा, घर पूर्वाभिमुख बना था। उत्तर की ओर खाड़ी थी। दक्षिण की ओर पहाड़ी। पहाड़ी पर आम, कटहल, काजू और कोकम के सुंदर घने वृक्ष थे। पहाड़ी की तलहटी में बांसों का वन था और उससे सटा हमारा बगीचा। पहाड़ी के उस ओर की ढलान से पानी का एक नाला, जिसे पन्हा कहते हैं, हमारी ओर आता था। उसमें असंख्य छोटे-बड़े रंग-बिरंगे पत्थर पड़े थे। उत्तर की ओर बगीचे से सटा पड़ोस के जोशीजी का बगीचा। पश्चिम की ओर भी एक बगीचा था। पर सूखा पड़ा था।

शायद कोई रहता नहीं था वहां। उस घर के मालिक हमारे ही दूर के कोई रिश्तेदार थे। बंबई में नौकरी करते थे। यह सब ससुरजी ने बताया।

आज भी मैं बगीचे में खड़ी हूं! मुझे देख ससुरजी भी सप्रयास वहां आए। बोले,

"कोंकण...अच्छा लगा?"

"बहुत ही सुंदर है। मेरे तात्याजी का सारा बचपन यहीं बीता था। मेरे जन्म के बाद वे दापोरा गए तो अवश्य, परन्तु उनके हृदय में इस भूमि के लिए जो स्नेह और सम्मान था, उसे वे आजीवन न भुला सके। उनकी सांस-सांस में कोंकण बसा था!"

"इस...मिट्टी...में...जो....मेहनत....करेगा...उसे....वह....भूखा....नहीं रखती।"

"फिर तो मैं भी खूब मेहनत करूंगी।"

"रोज...संध्या...को...अपनी...बारी...है।...तब....पानी...देना...पड़ता ...है...बगीचे...को...।"

"यदि आप मुझे सिखाएं तो मैं सींचा करूंगी!"

फावड़ा लेकर ससुरजी पाट की ओर चल दिए। मैं भी पीछे-पीछे हो ली। देखती रही कि कितनी कुशलता से, सफाई से, वे पानी को फावड़े की सहायता से पेड़ों की ओर मोड़ देते हैं।

पन्हे पर एक बांध बनाया गया था। उस बांध से जो पानी आता था, वही पाट में बहता था। बांध में पानी बहुत! ईश्वर की देन! उस पानी को लाने में हमें कोई कष्ट नहीं होता। हमारे पूर्वजों ने सारी सुविधा जुटा रखी थी। हमारा काम था उस पाट को ठीक, साफ रखें। उस निर्मल जल का उपभोग करें। बांध हमारे बगीचे के पास ही था। जोशीजी के बगीचे के पास धोबी घाट बना था। बड़े-बड़े पत्थर पानी में पड़े थे। वहीं कपड़े धोए जाते थे। हां, तो वह पाट हमारे बगीचे से होकर फिर दूसरों के खेतों, बगीचों में पहुंचता था। गांववालों की जलन का यह भी एक कारण था। लड़ाई-झगड़े चलते रहते। घाट फिर भी प्रसन्न मन से निरंतर बहता रहता।

पाट के पानी को दूर से देखना और बात, उसे निकट से जानना और बात! पानी का स्वभाव ही ऐसा है कि एक जगह रुकना उसे भाता नहीं। मनुष्य ने उसके इस गुण को जाना। पाट के माध्यम से उसे एक जगह ला छोड़ा और सारे खेत, बगीचे नीचे की सतह पर बनाए। रोधक दूर करने की देर कि पानी दौड़ चला सींचने। हर एक पेड़ की क्यारी में घुसता, गोल-गोल घूमता, उसे तृप्त करता हुआ आगे बढ़ जाता। एक बगीचे को सींचकर, निर्मोही बन दूसरे बगीचे में दौड़ जाता। जहां कहीं भी रास्ता मिलता, दौड़कर बह जाता। फिर चाहे गन्ने का खेत हो या मिर्च की क्यारी। उसे गन्ने का लोभ नहीं, मिर्च से बैर नहीं। उसे तो बचनाग की क्यारी में भी अपना काम करने से कोई इन्कार नहीं।

गंगा जल भी ठीक ऐसा ही। सारा विश्व पाप-मुक्ति के लिए इसकी गोद में कूद पड़ता है। कोई गीतों से उसकी पूजा करता है तो कोई फूलों से और इससे भी परे एक पूजा है 'दीप-दान' की, यदि मां-गंगा इस अपूर्व दृश्य का आनंद लेने के लिए क्षण भर रुक भी जाए तो कोई उसे कुछ नहीं कहेगा। परंतु उसका धर्म तो निरंतर बहना ही है। रुकना उसके कुल की रीत नहीं। सारे पापों का प्रक्षालन कर वह आगे बढ़ जाती है। अपने तट पर बसे वृक्षों-बेलों को जीवन देने के लिए, उन्हें पुलकित करने के लिए। परंतु उसे वृक्षों का मोह-बंधन भी रोक नहीं पाता। वह तो दौड़ती चली जा रही है, विशाल सागर में समा जाने के लिए, उसमें एकाकार हो जाने के लिए!

उसी गंगा के कुल में जन्मा यह पाट। अपना धर्म कैसे भूलेगा? अपने उच्च कुल के नियमों के विरुद्ध व्यवहार नहीं कर पाएगा।

ऐसे कितने ही भाव मन में उमड़ रहे थे। अचानक ध्यान गया मिट्टी की ओर। वह भीगती जा रही थी। पानी अपनी पूरी गति से क्यारी में भरता जा रहा था। गोल-गोल घूम रहा था। पर ससुरजी की नजर एकदम चुस्त! पानी की एक बूंद भी व्यर्थ न जाए। फावड़े से मिट्टी दूर करते ही पानी अपनी दिशा बदल देता, जैसे उनकी आज्ञा की ही प्रतीक्षा कर रहा हो।

संत ज्ञानेश्वर महाराज की पंक्तियों का अर्थ सही मायने में आज नेत्रों के समक्ष साकार हुआ। जहां माली ले जाए, वही पानी की दिशा है!

वही पानी मिट्टी में घुल-मिल गया। एकरस हो गया।

यह मिट्टी भी कैसी? बरार की मिट्टी तो चिकनी-काली थी। यहां कोंकण की मिट्टी का रूप लाल है। इसमें मिले हैं रेत के छोटे-छोटे कण! ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है :

"भूमि की कोमलता-मृदुता उसके मातृत्व को उजागर करती है।" यदि यही मातृत्व की पहचान है तो यह कोंकण भूमि उसी मृदुता, कोमलता से रची-बसी है। यहां की उपज! ओ, मां! क्या नहीं है यहां? फलों में आम, कटहल, काजू, कोकम, अनानास, शहतूत, पपीता... और भी न जाने कितने फल! कितने प्रकार के अनाज!

इस भूमि में इतनी सामर्थ्य कहां से आई होगी? क्या इसकी यह सामर्थ्य स्वयं इसी में निहित है? पानी के स्पर्श मात्र से सारा उमड़ पड़ा? जैसे पुरुष का तेज स्त्री के रुधिर में एकाकार हो जाने पर नए जीव की सृष्टि होती है, वैसे?

ससुरजी ने थरथराते हाथों से पसीना पोंछा। यह देख मैं तुरंत उनके पास गई। बोली :

"लाइए, फावड़ा मुझे दे दीजिए।"

"तुमसे हो सकेगा?"

"यदि न हो सका तो आप सिखाएं!"

उनके हाथ से फावड़ा लिया तो ऐसा लगा कि इसे तो मैं कब से जानती हूं। इसके उपयोग से भली-भांति परिचित हूं। इसका प्रयोग मैंने पहले भी किया है!

रंगोली की नाजुक रेखाएं बनाना मैं जानती थी। गोबर से सपाट लीपना भी मुझे आता था। वही काम आया। फावड़े को पकड़ हल्के-से, रेत को दूर किया। पानी अगले पेड़ की ओर दौड़ गया। क्यारी भर जाने पर सहजता से फिर मिट्टी का अवरोधनुमा बांध फावड़े से बना डाला। अगले पेड़ के लिए पानी का रास्ता खोल दिया। ससुरजी प्रशंसा-भरी दृष्टि से देखते रहे। बोले :

"इससे...पहले...कभी...फावड़ा...हाथ में...पकड़ा था?"

"नहीं!"

"फिर...इतनी...सहजता से...कैसे...?"

"पता नहीं!"

"तुम्हें...यह...काम...अच्छा लगता...है, वरना...ऐसी...सहजता...न होती। मैं...तुम्हें...सिखाऊंगा।"

मैंने कृतज्ञता से कहा :

"सिखाइए। मैं सीखूंगी।"

इतने में जोशीजी के बगीचे से किसी की आवाज आई :

"नई शिष्या मिल गई दीखती है।"

ससुरजी ने उधर देखा।

खुले बदन, धोती को जांघों तक चढ़ाए जोशीजी खड़े थे। नजर किसी चतुर शिकारी की सी थी। ससुरजी कुछ न बोले। जोशीजी ने आगे पूछा :

"बहूरानी है क्या? कहां की है? बरार की? आंखें वहीं की काली मिट्टी-सी हैं, इसलिए पूछा?"

कुछ देर तक कत्था सने बदरंग दांतों को निपोरते, अपनी छाती के बालों में हाथ फेरते घूरते रहे। फिर बोले :

"नाराज न हों, लेकिन यदि कोई सुंदर चीज दीख जाए तो क्या आदमी देखे बगैर रह सकेगा? क्या समझे? और मुझे तो तब पता चला, जब बाबू कल किसी से कह रहा था कि नए मेहमान की आंखें बहुत सुंदर हैं।"

इस पर ससुरजी ने थरथराती नजरों से एक बार उनकी ओर देखा। बोले कुछ नहीं।

३४/

कुछ ही दिनों में पता चल गया कि यहां जीने का अपना एक खास ढंग है। जिनके सहारे हमारी खेती-बाड़ी हो रही थी, उन्हीं किसानों से सासजी की निरन्तर झगड़ने की आदत थी। अनाज घर में आने पर वे उसमें हेराफेरी करतीं और दोष किसानों के सिर मढ़तीं। रोज पूरे गांव का फेरा लगातीं और प्रत्येक घर में कलह करवा देतीं। इधर की बात उधर पहुंचाकर झगड़े बढ़वातीं।

पर 'इनकी' बात ही कुछ और थी! गांव की रूपसी कन्याओं के इर्द-गिर्द चक्कर लगाना हंसी, ठट्ठा करना। कौन, कहां, क्या करने जाता या जाती है इसका कच्चा चिट्ठा रखना, इनका प्रिय कार्य था। उन सारे घरों में जबर्दस्ती जा बैठना। घंटों वहीं बिताना। बिल्कुल उबासी आने तक! घृणा उत्पन्न होने तक! निरन्तर धूम्रपान! इधर-उधर मुंह मारना। घर में, काम में, कभी मन लगता ही नहीं था। कभी-कभी तो वहीं, बाहर रात गुजार देते। तबला बजाते। अपनी मस्ती में जीते। शायद यही कारण था जो गांव वाले विवाह में रोड़े अटकाते थे।

ये दोनों अपने इन्हीं कामों में व्यस्त रहा करते। ससुरजी बगीचे में दिन भर काम करते थे। खून-पसीना एक करते। थकने पर बाहर बरामदे में लेट जाते। इस घर में नौकर का मान ससुरजी से कहीं अधिक था।

इन तीनों की गृहस्थी में कमी थी एक काम करने वाली की। उन्हें आवश्यकता थी एक ऐसी दासी की, जो उनकी हर आज्ञा का पालन करे और उनके कामों में अड़ंगा न डाले। दो जून की रोटी के बदले पूरी ईमान-दारी से सारा कामकाज करे। जो कपड़ा मिले, वही पहने।" और घर की कोई भी अच्छी-बुरी बात बाहर न कहे। खामोश रहे!

यह अहोभाग्य मेरे हिस्से आया, यही बड़ी बात थी। खूब एकान्त मिलता। जी भरकर बगीचे का निरीक्षण करती। धरती की सेवा करने का मौका मिलता, उसमें मैं खो जाती।

सुबह मुंह अंधेरे उठकर आंगन बुहारती। गोबर के पानी से छींटती। यहां के आंगन भी इतने सुंदर, इतने चिकने कि गोबर छींटने के बाद झाड़ने से उनका रूप और निखर आता। बिल्कुल चिकने, मुलायम हो जाते। मन करता था कि इस पर लेट जाऊं। झाड़ने के बाद उस पर रंगोली सजाती। पूजा के फूल चुनती। तबतक तीनों जग जाते थे।

मुझे लीपने-पोतने में खूब आनंद आता था। आठ-दस दिन में एकाध दीवार मैं लीप-पोत लेती थी। चिकनी लाल मिट्टी के कारण दीवार का रूप-रंग मानो खिल जाता। फिर उस पर मैं स्वस्तिक बनाया करती। उन छोटे-छोटे स्वस्तिकों से दीवार और भी सुन्दर लगती। आने-जाने वाले देखते रह जाते। इस काम के लिए सासजी से मुझे भला-बुरा सुनना पड़ता था, परन्तु इसकी आदत-सी हो गई थी।

नहाने के बाद एक ओर रसोई की तरफ ध्यान तो दूसरी ओर पूजा-पाठ का काम चलता रहता। सप्ताह में एक बार मूर्तियों को इमली की खटाई से मांजती। मूर्तियां एकदम चमकने लगतीं। मटमैली मूर्तियों का रूप अब उभरकर सामने आने लगा। वे बहुत पुरानी थीं। उसमें एक श्री नृसिंह भगवान की थी। वे हमारे कुलदेवता थे। बहुत सुन्दर मूर्ति। एक थी उमा की मूर्ति। तांबे की बनी। एकदम सजीव। पूजा करते समय ऐसा लगता कि वह आसन छोड़ उठेगी और प्रसन्नता से वरद हस्त मस्तक पर रखेगी।

पूजा करते समय जो भी कंठस्थ था, उसका पाठ करती। एक दिन स्तोत्र, दूसरे दिन ज्ञानेश्वरी, तीसरे रोज अभंग-भजन। रात सोने के पहले पांच-दस नए चरण याद करती और दूसरे दिन उन्हें दोहराती।

खाना बन जाने पर बाट तो जोहनी ही होती थी। उस खाली समय में एक-एक कर कई काम निबटाती। दोनों जब आते तो उन्हें खाना परोसती। किसी दिन भी वे खाने को अच्छा कहेंगे, ऐसी आशा ही करना व्यर्थ था।

ससुरजी बगीचे का काम कर देर से आते। उन्हें खाना खिलाने के बाद मैं भोजन करती। चौका-चूल्हा लीप-पोतकर सफाई का काम पूरा करती। फिर ससुरजी बगीचे से जो भी साग-सब्जी-भाजी लाये होते, उसे

साफ करती। कभी धूप में सूखने कुछ रखा होता तो उसकी रखवाली करती। तबतक वे दोनों सोकर उठ चुके होते। उन्हें चाय देती। यदि दोनों शाम को घर पर रुक भी जाते तो बहुत ऊंची आवाज में बोलते। कभी-कभार झगड़ते भी थे। झगड़ा होने पर वे निकल जाते और सासजी बाहर आंगन में बैठकर आने-जाने वाले से बातें करती रहतीं। गांव की सारी खबरें उन्हें मालूम होतीं। मैं फावड़ा उठाकर ससुरजी के पीछे-पीछे बगीचे में चली जाती। वे मुझे बगीचे का सारा काम समझाते। मेरा काम देख प्रसन्न होते।

एक दिन केले के पेड़ पर एक जगह फूली हुई दिखाई दी। उसी के नीचे एक छोटा-सा अंकुर दीख पड़ा। मैं आश्चर्य-से देखती रही। ससुरजी ने पूछा :

"क्या...देख...रही...हो ?"

"केले का अंकुर !"

"कभी...देखा...नहीं ?"

"नहीं !"

"केले...का...वंश...बढ़...रहा...है।"

कितना कोमल, कितना सुन्दर ? लाल-पीला। नुकीला !

दूसरे दिन देखा तो उसमें से एक पत्ता झांक रहा था। न जाने कितनी देर उसे देखती रही। ससुरजी बोले :

"कितनी...देर...देखती...रहोगी ?"

"यह पत्ता बड़ा कब होगा ? दूसरा कब आएगा ?"

"इतनी...जल्दी...कैसे ? कुछ...समय...तो...लगता ही है !"

यह भी सत्य है। दो-चार दिनों में एक-एककर पत्ते फूटने शुरू हुए। फैली हुई हथेली के समान वह पौधा दीखने लगा। मैं रोज उसे ध्यान से देखती। उसकी प्रगति का मन-ही मन हिसाब रखती। देखते-देखते वह हाथ भर लम्बा हो गया।

फिर एक दिन ध्यान आया कि (अरबी) की बढ़त भी ऐसी ही होती है। ऊपर वाला पत्ता अपने अंक में धीरे-से दूसरे पत्ते को सम्हालता है। उसकी देखभाल करता है। अपने डंठल को उसे ओढ़ाए

रखता है। जब वह बाहर निकलने लायक हो जाता है तो डंठल के दोनों बाजुओं को चीरता हुआ धीरे-से बाहर झांकता है।

यह कैसा लालन-पालन ! यही तो 'उसकी' माया है। इस नर्म, मृदु का कैसा अनूठा संरक्षण ! इस मिट्टी का एक-एक रहस्य ज्यों-ज्यों सामने आता गया, मेरा मन असीम श्रद्धा से भरता गया।

इस घर में आने से एक विशेष बात यह हुई कि ससुरजी अब प्रसन्न रहने लगे। उनके चेहरे और व्यवहार से यह बात साफ मालूम पड़ती थी। एक दिन बोले :

"मनु...बगीचे...के...चारों...ओर...बाड़...लगाएं ?"

"किसकी ?"

"बांस...की...पतली...संटियों...की।"

अगले चार दिन तक हम दोनों पहाड़ी से संटियां लाने में व्यस्त रहे। कितनी ही खरोंचें आईं। कोई चिन्ता नहीं। गुरु अपना पाठ पढ़ा रहे थे। शिष्या आचरण में मगन थी। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं :

"सर्वात्मक ईश्वर की पूजा कर्मरूपी कुसुमों से करें तो ईश्वर संतुष्ट और प्रसन्न हो जाता है।" मेरे और ससुरजी के जीवन में इस पूजा के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचा था। कभी-कभी मन में यह अहसास तीव्र हो जाता कि यदि मैंने अपने आपको 'उसके' चरणों में समर्पित न कर दिया होता तो आज किसी बावड़ी-कुएं की शरण लेनी पड़ती।

फिर लगता, जब मैं 'उसकी' हूं, तो मुझे जीवन में किस बात की कमी ! जब ये भाव मन में उमड़ते तो, जैसे सारा दुःख धुल जाता। मन एक अद्भुत उत्साह से भर जाता। मैं जान क्यों देने लगी ? मुझे तो जीना है। 'उस' ने भी तो गीता में कहा है, "हर हालत में मैं स्वयं को कर्म में डुबोए रखता हूं।" फिर मैं तो 'उसके' विराट विश्व में विचरने वाली उसकी एक अति सूक्ष्म कृति हूं। मुझे अपना कर्त्तव्य पूरा करना ही होगा।

हां, तो मैं बता रही थी बाड़ के बारे में। संटियां तोड़कर बगीचे में एक ओर सलीके से रख दीं। पता नहीं, मेरे जर्जर शरीर में यह शक्ति कहां से आई ?

फिर ससुरजी ने सिखाना शुरू किया। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सीधी संटियां गाड़ दीं। एक-एक संटी के खड़े दो भाग चीरकर रख दिए। फिर उन्होंने वे कटी संटियां खड़ी-सीधी संटियों में ऐसी सफाई से अटकाकर बुन डालीं कि मैं देखती ही रही। मैं भी सीखती रही। दो-चार दिनों में जब संटियों के पत्ते झड़कर गिर गए, तब ससुरजी का शिल्प साकार हुआ। उन्होंने संटियों की जैसे एक सुंदर शृंखला ही बुन दी थी।

ससुरजी स्वयं काम करते, परन्तु प्रशंसा मेरी करते। कहते :

"बहुत...सुंदर...बनाया...है।"

मैं संकोच से कहती :

"यह सब तो आपने ही बुना है। मुझे कहां आता है ?"

"मैं...अकेला...क्या...करता ? तुम्हारे...कारण...बना।"

"यदि मैं न भी होती तब भी आप काम करते। यह तो आपका स्वभाव है। काम के बगैर आप जी नहीं पाएंगे।"

वे मेरी ओर देखते रहे। फिर बोले :

"अच्छा...मैंने...बनाया। इसके...बदले...कुछ...मांगूं ?"

तुरन्त मैंने कहा, "अवश्य।"

"अच्छा।"

"आप आज्ञा तो दें, मैं अवश्य पूरी करूंगी।"

वे जमीन पर बैठ गए। हाथ में जो खुरपी थी, उससे बड़ी देर तक मिट्टी में लकीरें बनाते रहे। फिर बोले,

"तुम...तो...मेरी...बेटी...हो...इसलिए... संकोच...त्यागकर ... कहता हूं।"

ससुरजी ने मुझे बेटी कहा तो मेरी आंखें भर आईं। आवेग को यथाशक्ति दबाते हुए मैंने कहा :

"आप आज्ञा तो दें।"

"जीवन...भर...जड़...मूढ़...अज्ञानी....रहा। ईश्वर....चिन्तन...नहीं किया। तुम...ज्ञानेश्वरी...पढ़ती...हो, समझती...हो...। मुझे...वह...समझाना ! मैं...शिष्य...बनूंगा...तुम्हारा।"

मन हुआ कि इस वृद्ध के चरणों में लोट जाऊं। इसके चरणों की धूल माथे से लगा लूं। आंखें पोंछकर मैंने कहा :

"पिताजी, मैं तो केवल उसका पाठ करना जानती हूं। परन्तु आपने तो आजीवन उसकी सेवा की है। मैं आज से आप जो चाहेंगे, वही पढ़कर सुनाऊंगी। चाहें तो ज्ञानेश्वरी। चाहें तो गीता।"

उन्होंने इशारे से मुझे रोका : बोले :

"मनु...मैं...तो...हकलाता...हूं। तुम...जैसी...गीता...पढ़...पाऊंगा ? मुझे सिखाओगी ?"

"आपको पाठ करने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं आपको रोज गीता का बारहवां तथा पंद्रहवां अध्याय पढ़कर सुनाया करूंगी।" मैंने आश्वस्त होकर कहा।

३५/

हम दोनों छोटे कमरे में सोते थे। एक कोने में मैं, दूसरे कोने में वे। यही नियम बन गया था।

दिनभर का थका-मांदा शरीर। एक दिन जल्दी ही मुझे नींद आ गई। बत्ती मद्धिम जल रही थी। बाहर चांदनी बिखरी हुई थी।

अचानक नींद खुली। वे बिस्तर पर नहीं थे। बाहर मां-बेटे की आवाज सुनाई दी।

"मरे, रात में कहां निकल पड़ा ?"

"पूछ ही लिया न ?"

"बाहर कहीं मत जाना।"

"जैसे मुझे ही शौक है।"

"फिर ?"

"ये हड्डियों का ढांचा मेरे गले मढ़ दिया।"

"ब्याह से पहले तूने भी तो देखा था !"

"इससे तो अनब्याहा ही अच्छा था।"

"अरे ! तू तो पति है न उसका ?"

"तो क्या हुआ ? क्या दीवार पर सिर दे मारूं अपना ?"

"देख, सीधे रास्ते से न मानती हो तो डंडा लेकर छील के रख दे चमड़ी !"

"देखना, मुझे ताव न देना।"

"अरे देखना क्या है ! मर्द है या नहीं।"

"तुम मुझे अधिक गुस्सा मत दिलवाओ।"

"मार-मारकर हड्डी पसली एक करके रख दे। तभी जानेगी।"

मैं एकदम उठ बैठी। कैसा समय आ गया यह ? चीखने-चिल्लाने पर भी कोई मदद नहीं करेगा। यहां किसी ने गला घोंटकर मार डाला तो किसी को पता भी न चलेगा। अब क्या करूं ? देखा कि वे एक पतली लम्बी लकड़ी लेकर मेरी ओर आ रहे हैं। सासजी की परछाईं दिखाई दी। वे दरवाजे पर ही रुक गईं। वे अन्दर आए।

हे भगवान ! बाहर ससुरजी तो हैं, पर अपंग। फिर सासजी उन्हें अन्दर घुसने नहीं देंगी। यहां से बाहर भागकर गई भी तो किसके दरवाजे पर जाऊंगी ? क्या गणेश मन्दिर की ओर दौड़ जाऊं ? ईश्वर के चरणों का सहारा लूं ? या फिर आंगन में खड़ी होकर चिल्लाऊं ? कोई तो आएगा, ऐसे कठिन समय में। क्या करूं ?

छी:-छी:। मैं तात्याजी की संतान हूं। मौत को सामने देख जब वे नहीं डगमगाए, तो मैं क्यों डरूं ? सामना करना ही होगा। यदि इस समय मैं हार गई, भाग गई, तो उस प्रिय पिता के नाम पर व्यर्थ ही कलंक लगेगा। संत ज्ञानेश्वर महाराज के दिए ज्ञान का व्यर्थ दम्भ लेकर जीना हुआ यह ! उन्होंने तो कितने घाव सहे, कितनी अवहेलना सही जग की ! कितना उपहास सहा निर्दयी जनों का ! और इसकी किंचित झलक भी नहीं मुख मुद्रा पर।

जनाबाई की कथा दुर्गा को सुनाते हुए कई बार उसकी सहन-शक्ति का रस-भरा वर्णन मैंने किया होगा। जब सहा न गया तब जनाबाई

'उसकी' शरण में पहुंच गई। 'उसकी' हो गई। यह कहती हुई, "हरि रे, मेरा कोई नहीं।"

मन-हृदय से तो मैं भी उसकी हो गई हूं, ऐसा ही आजतक मानती चली आ रही हूं। मेरा अन्तर्मन मुझे कोसने लगा—इतना आसान है क्या 'उसका' हो जाना ? अरी, निर्लज्ज, 'उसकी' मुद्रा को शिरोधार्य करना आसान समझा है क्या ? अभी तो पहाड़ों-सा दुख सहना होगा। संत भानुदास ने कहा था अपने ईश्वर से, "चाहे आकाश टूट पड़े, पृथ्वी खंडित हो जाए, दावाग्नि त्रिभुवन को भस्म कर दे, फिर भी मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा करता रहूंगा।" अरी, इन विपदाओं में से कौन-सी विपदा तुझ पर आई है ? क्या आकाश टूट पड़ा है ? या बिजली गिर पड़ी है तुझ पर ? नहीं न ! फिर अपने 'उसका' आंचल छोड़ कहां जा रही है ? 'उसका' आसरा छोड़ किसके आसरे जिएगी ?

खड़ी रह ! एकदम सीधी। मरद के हाथों पिटने वाली क्या तू पहली औरत है ? यह विष तो कइयों ने पिया है। उनके मुख से आह भी न निकली होगी। रात में मार खाकर अधमरी हो जाती हैं और सुबह प्रसन्न मन से काम में जुट जाती हैं। ऐसी हजारों नारियां हैं। वे तो तुम्हारे जैसा दंभ भी नहीं करती हैं, 'उसकी' हो जाने का !

और तूने यह क्यों नहीं समझ लिया कि इस क्षण 'वही' आया है पति रूप में। चुपचाप सब सह ले। हारना मत। झुकना मत। मुंह से आह तक न निकले। सारे घावों को फूलों की मार समझकर सह ले।

ऐसा ही बहुत कुछ मन में आया। फिर निश्चय किया, जीवन के सुख-दु:ख को शांति से स्वीकार करो।

चेहरा बचा रहे, इतना ही प्रयत्न किया। सारे शरीर पर घाव होते रहे। प्रत्येक घाव के साथ उसका स्मरण करती रही। असहनीय हो जाने पर अंत में एक ओर लुढ़क गई। उन्होंने हारकर लकड़ी फेंक दी। बोले: "मार-मारकर हाथ दु:खने लगे। हथेलियों में जलन होने लगी।"

सासजी दबे स्वर में बोलीं :

"मरी, टूटे तेरी ठठरी ! एक बार तो मुंह से आवाज निकालती।"

इन्होंने पूछा, "अब ?"

"पूछ रहा है, अब और क्या ? मरे, तू हार गया। वह जीत गई।"

इनकी सांस फूल रही थी। बोले ;

"मुझसे जीत गई ?"

"और नहीं तो क्या ? ढोरों-सी पिटाई हुई, फिर भी उसने उफ् तक नहीं की !" सासजी पैर पटकती आईं। एक लात मेरी कमर में जमा दी और दोनों मां-बेटे बाहर निकल गए।

सारा शरीर दर्द से बेहाल था। मार के निशानों से नीला पड़ गया था। प्रत्येक घाव की टीस भिन्न थी। सासजी को लगा कि मेरा शरीर कितने ही घाव सहने योग्य है। दरअसल इसका आधा दंड भी सहने योग्य मेरा शरीर न था। मैं तो कब की ढेर हो गई होती ! परन्तु आज यह परीक्षा थी, मेरे मन की। मेरे मन ने उसमें सफलता प्राप्त की थी। यदि मेरा मन, तन से एकाकार हो गया होता, तब तो लाठी से मारने की भी आवश्यकता न थी। कल्पना मात्र से ही शरीर चीखने-चिल्लाने लगता।

इस कसौटी में एक नई बात समझ में आई। शरीर से मन अलग हो गया। यत्नपूर्वक मन को 'उसके' स्मरण में लगा दिया और शरीर चोट सहता रहा।

इस परीक्षा में मेरी उंगली पकड़ 'वह' मुझे तार कर पार लगा गया।

रोज की तरह मुंह-अंधेरे उठी। शरीर में बहुत दर्द था। उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। आंगन लीपा। रंगोली सजाई। चाय बनाई। दोनों उठे। चुपचाप चाय पी ली। और अपने काम में लग गए। मैंने बिस्तर उठाए। झाड़ू लगाई।

सोचा, रात की थकान का इलाज ढूंढ़ना होगा। रोज से अधिक काम करना होगा। अत्यधिक श्रम से ही सारे कष्टों का विस्मरण हो पाएगा !

पिछली दीवार कुछ उखड़ी और खराब-सी दीख रही थी। मिट्टी सानकर उसे लीप डाला। पूरे एक घंटे की मेहनत के बाद कहीं जाकर दीवार का रूप निखरा। फिर सोचा कि लगे हाथ तुलसी के चौबारे को

भी लीप डालूं। मिट्टी लेकर बाहर आई तो देखा ससुरजी घुटनों में सिर छिपाए सिसक-सिसक कर रो रहे थे।

मिट्टी वहीं चौबारे के पास रख उनके पास गई। एकाएक वे मेरे पैरों से लिपट गए। अत्यन्त संकोच से मैंने उनके हाथ छुड़वाए। पूछा,

"आपकी तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

सिसकते हुए बोले, "मुझे...मर...जाना...चाहिए !"

"क्या हुआ ? मुझे बताइये।"

"यह...लज्जित...जीवन ! रात...से...।"

"खाने में कुछ गड़बड़ी हो गई ?"

"बेटी...तुम्हारी...पीठ...पर...पहला...वार...हुआ...तभी...घबराहट...से...पहली...बार...दौड़ा..."

मुझे बहुत लज्जा आई। बोली :

"सोंठ का काढ़ा उबाल दूं ?"

मेरी ओर ध्यान न देते हुए ससुरजी बोले :

"मैं...मर्द...हो...कर...भी...बाहर। और...तुम...अन्दर...पिट...रही...थीं। मैं...क्या...कर...सका ? छिः...धिक्कार...है...मुझ...पर। काढ़ा...मत...दो...मुझे...कहीं से...अफीम...का...गोला...लाकर...दो। मुझे...जीना...नहीं..."

मैंने उनकी पीठ पर स्नेह से हाथ फेरते हुए कहा :

"आप ऐसा न सोचें।"

"मन...में...हजार...बार...आया...कि...उसे...कहूं...कि...तुझे...छोड़...मुझे...मारे। पर...हिम्मत...न...हुई।"

मैंने झूठ बोलने का प्रयास किया। बोली :

"वे मुझे नहीं, चूहे को मार रहे थे।"

मेरी ओर अपलक देखने लगे ससुरजी। बोले :

"फिर...शरीर...पर...ये...निशान...कैसे ?"

मैंने साड़ी को शरीर पर अधिक कसकर लपेटते हुए कहा :

"कहां ? कोई भी तो निशान नहीं है।"

"बेटी...ये...बाल...धूप...में...सफेद...नहीं...हुए। वह...राक्षसी...और वह...दैत्य...कुछ...भी...कर...सकते...हैं। दिखाओ...अपनी...पीठ..."

वे मेरी पीठ सहलाने लगे। लगा, मानो तात्याजी ही सहला रहे हों। मैंने आंखें बंद कर लीं। उस ममता भरे स्पर्श में चंदन की शीतलता थी।

इतने में जैसे कानों में किसी ने पिघला शीशा उंड़ेला :

"अरे ऽऽ! इतने बेशरम कैसे हो गए तुम दोनों? अब बहू पर नजर गई तुम्हारी?"

ससुरजी ने क्षीण-सा प्रतिकार किया,

"अरी, यह...तुम्हारी...जीभ...है...या..."

"अरे, वा ऽ ऽ ह! अपनी आंखों से देख रही हूं, दोनों को लिपटे हुए! और करमजली, तू मर क्यों नहीं जाती?"

अतीत विस्मय से मैं सासजी की ओर देखती रही।

आकाश में सुबह से ही घने बादल छाये थे। उनकी फीकी छाया में दोपहर तक काम किया। सारा शरीर पके फोड़े-सा दुःख रहा था। प्रत्येक नस जैसे फटी जा रही थी। अब तो दर्द भी असहनीय हो रहा था। अंत में हारकर एक गुदड़ी बिछाई और उस पर लेट गई। एक हाथ सिर के नीचे रखा। उस हाथ में भी बेहद दर्द था। मुंह को बचाने के लिए इन हाथों ने बहुत सारी चोटें झेली थीं। शरीर से भी कहीं अधिक वेदना उमड़ रही थी हृदय में। हम दोनों पर ऐसा गंदा लांछन लगाया था सासजी ने? क्यों?

अंतर्मन में द्वंद्व-सा मच गया। एक मन वह जो 'उसके' चरणों में समर्पित, कृतार्थ! और दूसरा वह, जिसने लांछना के घाव सहे। दूसरा मन पहले को फटकार रहा था, और पहला मन आंखें बंद किए फटकार सह रहा था।

दूसरा मन बोला :

तुम्हारा दंभ व्यर्थ है। जिसके चरणों में तुमने स्वयं को समर्पित कर दिया, है 'उसका' अस्तित्व है ही नहीं! दुर्बलों की कल्पनाओं का मायाजाल है। एक असत्य युक्तिवाद! जिसकी ओट में दुर्बल अपनी दीनता छुपाए फिरते हैं। एक पोली अभ्रच्छाया! गंधर्वनगर! मृग-

तृष्णा! जिसके पीछे हजारों हिरन दौड़ पड़ते हैं और अंत में निराश होकर प्राण त्याग देते हैं।

...मात्र एक कवि-कल्पना। व्यर्थ शब्द-जंजाल। उसका अस्तित्व भी झूठा और उसका आश्रय भी असत्य! मूर्खों के लिए धूर्तों का फैलाया माया-जाल! बेचारे गरीब-दीन उसमें अटक जाते हैं, और स्वयं को धोखा देते रहते हैं। प्राण तक गंवा देते हैं।

...भ्रामक शब्दजाल! आंगन समझ विश्वास से चलने का प्रयास करो तो पानी में डूबने का भय।

...यदि 'वह' सत्य है, तो मार खाने की नौबत ही क्यों आई? वेदना क्यों? अन्तर्मन में दतना दर्द क्यों?

...शरीर की बात छोड़ो। यदि तुमने उसके चरणों में आत्मसमर्पण किया है तो साहस के साथ उन घटिया आरोपों का खंडन क्यों नहीं किया? इतना विकट परिणाम क्योंकर सहा?

...तुम्हारे लिए यही उचित है। दूसरों को धोखा देना आसान है, पर अपने आपको धोखा देना तो घोर पाप है। उस पाप के निवारण के लिए इतना तो अनिवार्य ही है।

दूसरा मन पहले पर निरंतर प्रहार कर रहा था। परन्तु फिर भी पहले मन की ध्यान-मुद्रा में कोई परिवर्तन ही नहीं!

दूसरा मन हारकर लौट गया। मां याद आई। तात्याजी का स्मरण हो आया। दादा की याद आई। अपने प्रियजनों के स्मरण से आंखें झरने लगीं। मन बहुत भटका और फिर चुपचाप अपनी जगह जा बैठा। मैं बेहोश-सी पड़ी रही। दोपहर में घने बादलों का मलिन अंधेरा छाया रहा।

अचानक नींद खुली। शाम की कोमल धूप पिछवाड़े के दरवाजे से मेरे शरीर पर उतर आई थी। प्रत्येक चोंट को छू रही थी। उसे चूम रही थी। अब बहुत अच्छा लग रहा था। कौंधती बिजली-सा विचार मन को जागृत कर गया कि यह धूप नहीं है, यह तो 'उसके' कोमल हाथों का स्पर्श है। दुःखते घावों पर यह स्पर्श मोरपंख-सा प्रतीत हुआ। यह स्पर्श तो उन वेदनाओं को जैसे सोख रहा हो। हरएक घाव से वेदना

को चुनकर बाहर निकाल रहा हो। इतनी देर बाद क्यों आई भला यह बात ध्यान में ?

नन्हा शिशु स्तनपान के समय जैसे मां की गोद में पड़ा रहता है, वैसे ही, मैं पड़ी रही। सारी वेदनाओं का अब अंत हो गया। अंग-अंग में चेतना का संचार हुआ। 'वह' प्रकाश दृष्टि द्वारा शरीर के अंदर समाता चला गया और रोम-रोम में बस गया।

एकदम उठ खड़ी हुई। पिछले दरवाजे पर पहुंची। दोपहर में घने बादल छंट गए थे। सूर्य-नारायण अस्त होने जा रहे थे। उनकी तरल किरणें बड़े-बड़े पेड़ों से छनती हुई मुझ तक पहुंच रही थीं। नारियल के शिखर, सुपारी के मस्तक, आम-कटहल की ऊंची शाखाएं, सबकुछ सुनहरा हो गया था। हरीतिमा अदृश्य हो गयी थी। जैसे किसी ने सुनहरा रंग बिखेर दिया हो। उस सुनहरे रंग में भी एक प्रकार की लालिमा छाई थी। हवा के झोंके से सारे वृक्ष झूम रहे थे। यह देख ऐसा लगा कि 'उसने' जरी का वस्त्र ओढ़ लिया है। उस वस्त्र के सुनहरे रेशे हवा के साथ हिल रहे हैं। चम्पा के फूल सुगंध फैला रहे थे। अन्य फूलों की सुगंध भी उस सुगंध में घुल-मिल गई थी। तब ध्यान आया कि यह तो 'उसका' श्वसन है, जो सारे वातावरण को अपनी सुगंध से मदहोश कर रहा है! पंछियों के गीत भी 'उसकी' मुरली की तान से प्रतीत हो रहे हैं।

सारा शरीर रोमांच से थरथराया। मैं बोली, अरी अबला, 'वह' तेरे लिए आया है। उसका अस्तित्व अस्वीकार कर रही थी न? यह 'उस' के अतिरिक्त और किसकी लीला होगी? कौन होगा दूसरा? संध्या समय जो तुम्हारे दरवाजे से झांक रहा है, वह किसका प्रकाश है? फिर एक कविता झर उठी :

"डूबते सूरज के प्रकाश में कण-कण तृप्त, मदमस्त हो गया है। वृक्ष लताएं, वन सभी सज-संवर गए हैं। 'गोविंद' के रूप में सृष्टि का हरएक अणु मानो उसमें नहा रहा है। ऐसा लग रहा है, जैसे यह सृष्टि काया बन गई है, मेरे उस सांवरे की।"

३६/

सावन की झड़ी लग जाने पर आंगन पानी से भर जाता था। उसके रुकने पर फावड़े से पानी निकालना पड़ता था।

मैं और ससुरजी इसी काम में लगे थे। इतने में गांव का एक मछुआरा हमारे आंगन की सीढ़ियां उतरकर आया। तगड़ा मजबूत शरीर में। सुर्ख आंखें। कमर से अंगोछा लपेटा हुआ। गले में ताबीज, ताबीज से बंधा एक चाकू। दोनों हाथ कमर पर रक्खे खड़ा रहा। ससुरजी ने चौंककर उसकी ओर देखा। पूछा :

"रावश्या...आज...इधर... कैसे ?"

वह रुखाई से बोला,

"तुम्हारे पास ही। बाबू कहां है ?"

ये दिनभर तबला बजाते घर पर ही बैठे थे। पानी बरसना कुछ कम हुआ तो बाहर निकल गए। ससुरजी ने मेरी ओर देखा। मैंने जवाब दिया :

"कहीं बाहर गए हैं।"

रावश्या ने मेरी ओर देखा और पूछा,

"बहू है, क्या ? बाबू की घरवाली ?"

"हां। बैठ...न...ओसारे में।"

रावश्या गुस्से से बोला :

"घर का सोना छोड़, यहां-वहां मैल में मुंह मारना किसने सिखाया है बाबू को ?"

ससुरजी संज्ञाहीन-से खड़े रहे। मैं घबरा गई। रावश्या अब जोर-जोर से चीखने लगा था। पास-पड़ोस के खेतों तक उसकी आवाज सुनाई दे रही थी। क्या करूं ? कुछ सूझ नहीं रहा था।

इतने में सासजी आ गईं। वे खेतों पर बुवाई का काम देखने गई

थीं। छाता बंद किया। खूंटी पर टांगा। फिर दरवाजे पर खड़ी होकर बोलीं :

"क्या हुआ रे, रावश्या ? मरे, चिल्ला क्यों रहा है ?"

वह आवाज चढ़ाते हुए गुर्राया :

"अभी और चीखूंगा-चिल्लाऊंगा। बेकार चीखने के लिए क्या मेरा दिमाग खराब है ?

"अरे ! सारा कस्बा सुन रहा है, तेरी गाली-गलौज को।"

"तो ? छोड़ूंगा क्या ? देख बामनी, अपने बाबू को सम्हाल कर रख !"

"यानी ?"

"जैसे तुझे कुछ मालूम ही नहीं ! नई आई है क्या, गांव में ?"

सासजी खिसिया तो गई थीं, फिर भी साहस बटोर कर बोलीं :

"अरे, तेरी लड़की ही बेशरम है। अपने मरद का घर छोड़ आई..."

"अपनी लड़की को देखने के लिए मैं जिंदा हूं। तू अपने बाबू की बोल !"

सासजी तनिक नरमाई से बोलीं,

"खड़ा क्यों है रे, रावश्या ? तनिक बैठ भी ! देख, ये बच्चे बचपन से एक साथ खेले और पले हैं। तिसपर तेरी औरत तो शुरू से ही बाबू को दामाद कहती चली आ रही है। थोड़ा-सा मजाक..."

अब रावश्या बुरी तरह भड़क उठा। बोला :

"मजाक ! आंखें फूटी नहीं हैं, अभी मेरी !"

सासजी ने अब पैंतरा बदलकर कहा :

"यह सामने, सुन्दर आंखों वाली मेरी बहू खड़ी है। देख इसे। इसे छोड़ बाबू किसी और के पीछे क्यों दौड़ेगा ?"

"हां ऽऽ ! वही मैं भी कह रहा हूं। अब दीखे तो कहीं बाहर, फिर देखना। हां, और फिर जो वह अब कोलीबाडे में आया तो..."

इतना कहकर रावश्या ने अपनी लाल-लाल बड़ी आंखें कुछ इस

तरह नचाईं कि मुझे पसीना छूटने लगा। वह दनदनाता हुआ चला गया।

संध्या समय वे घर आए। भोजन से निवृत्त होने पर मैंने बिस्तर लगाए और ससुरजी को ज्ञानेश्वरी सुनाने लगी। वे और सासजी बाहर ओसारे में बैठे बातें कह रहे थे। पहले तो दबी आवाज में बातचीत चलती रही। अचानक दोनों का स्वर तेज हो गया। बाहर की बातें कानों में पड़ने लगीं :

"फिर भी, तुझे बताए देती हूं कि कोलीबाड़े मत जाना।"

"तुम मेरी बात मानो। मैं कोई दूध पीता बच्चा तो हूं नहीं !"

"बाबू ऽऽ, तुझे बहुत समझा रही हूं।"

"अरे, उससे क्या डरना ? कोई खा थोड़े ही जाएगा ?"

"उस मरे का कोई भरोसा नहीं।"

"तो ? वह बच जाएगा क्या ? मेरे अपने लोग उसे जिंदा छोड़ेंगे, ऐसा लगता है क्या तुम्हें ? टुकड़े-टुकड़े कर देंगे उसके।"

"अरे, पर वहां किस काम से जा रहा है ?"

"तुझे मालूम नहीं, मां ! उसी ने मुझे आइना, नकली बाल आदि लाने के लिए कहा था। इतना खर्चा कर, मेहनत से लाया हूं तो उसे देना ही होगा।"

"इत्तीसी बात है न ? ला, मैं पहुंचाए देती हूं।"

"हां ऽऽ ! बड़ी होशियार..."

"होशियार नहीं, पागल हूं। बस ? पर तू मत जाना वहां !"

"तुम जाओगी तो सारे कोलीबाड़े को पता चल जाएगा। चुपचाप करने के जो काम हैं, वे चुपके-से ही होने चाहिए।"

"चुप, मरे।"

"उसके बाल छोटे हैं, इसीलिए उसका मरद उसे घर में नहीं रखता। नकली बाल लगाकर जाएगी तो...अब समझी ?"

"मरने दे उसे। वह कलमुहां उसे रखे या जलाए, हमें क्या लेना-देना उससे ?"

"अच्छा, नहीं जाता। बस !"

"खा मेरी सौंगध ।"

वे हंसकर बोले :

"क्या इतनी-सी बात के लिए सौगंध खाऊं? अब मुझे तबला बजाने के लिए तो जाने दो । नाटक के गीतों का रियाज करवाना है । गणेशोत्सव आ रहा है न ?"

"अरे वा ऽऽह ! तुझे यह काम भी सौंपा है क्या ?"

"और नहीं तो क्या ? वह संगीत मास्टर तो ताल का एकदम कच्चा है ।

"खैर जाने दो । मुझे एक कप चाय तो पिला दो न !"

"मांग, अपनी ज्ञानेश्वरी से !"

"न, बाबा न ! मैंने तो उस दिन से बोलना ही बन्द कर दिया है । मेरे लिए वह मर गई । इतना पीटा उस दिन, पर मुंह से एक बार भी न निकला कि क्यों मारते हो ? यह तक नहीं कहा कि आगे से ऐसा नहीं करूंगी । न बाबा ! और तुम कोसती हो कि घर से बाहर क्यों रहता है? तुम्हारी, इच्छा हो तो चाय बना दो । मुझे उसकी बनाई नहीं चाहिए ।"

३७/

सावन में नारियल, सुपारी की क्यारियां एकदम सपाट हो जातीं । भादो में फिर से नई बनानी पड़तीं । सुबह-शाम बगीचे में काम होता । मैं और ससुरजी जुट जाते । एकाध बार सासजी बगीचे में झांक जातीं । काम ठीक से चल रहा है या नहीं-इतनी ही उनकी रुचि होती ।

इनका तो घर में पैर ही नहीं टिकता था । आने-जाने का कोई समय नहीं, जैसे-तैसे नहाकर खाना खाने बैठ जाते । खाना गरम ही खाते । परंतु वह भी मन लगाकर नहीं । जल्दी-जल्दी दो चार कौर निगलते और बीड़ी सुलगाते हुए निकल पड़ते! इन दिनों उनकी-सेहत भी गिर गई थी ।

आंखों के नीचे काले धब्बे पड़ गए थे । गाल भी पिचक गए थे । मुद्रा देखी नहीं जाती थी । मन भर आता । मन करता, उनसे कहूं, आप जो चाहते हैं, मैं वही करूंगी । आपके पैरों पड़ती हूं । कम-से-कम खाना तो भरपेट खाया करें । चार-पांच घंटे आराम भी किया करें ।

परन्तु फिर लगा, यदि वे मेरी बात समझ ही न पाए तो ? मेरी भावनाओं का विपरीत अर्थ लगाया तो ? नहीं ! उससे कहीं अच्छा है कि मैं बगीचे की खूब सेवा करूं । यह काम खूब भाया । हरएक नारियल-सुपारी के पेड़ तले कटोरी जैसी क्यारी बनाना, पेड़ की किसी भी जड़ को ठेस पहुंचाए बगैर ! नारियल का पेड़, जैसे पुरुष । पचास-साठ हाथ लंबा और अपनी मस्ती में डोलता । उस हिसाब से सुपारी नाजुक । दुबली-पतली । जरा-सी भी गलती हुई, कुछ कम-ज्यादा हुआ तो फौरन मुरझा जाती । पकने पर ऐसी सुंदर लगती, जैसे सूरज की पहली किरण । उसे आलिंगन में लेने का मन करता । चूमने को जी चाहता । लगता कि इसकी नजर उतार लूं ।

और नारियल के पेड़ को देख बरबस हंसी आ जाती । मन में आता, उससे कहूं कि वह इस तरह क्यों खड़ा है ? अपने बड़े-बड़े पत्तों से तन को ढक क्यों नहीं लेता ?

कटहल की बात तो और भी अलग । उसके फल तो जड़ से ही तने की तलहटी में लगते । कुछ बड़े हो जाने पर तना खिला-खिला-सा लगता । सैकड़ों कटहल लगते एक-एक पेड़ पर ! इस पेड़ से मेरा स्नेह कुछ अधिक ही था । यदि कोई उसके तने को चोट पहुंचाता तो वहां से निकलने वाला सफेद, टपकता रस देख मुझे बहुत दुःख होता । लगता उसके तने पर नहीं, मेरे शरीर पर चोट की गई है ।

ऐसी हमारी प्रीत बढ़ती गई । पेड़ों और मेरे बीच स्नेह-बंधन सुदृढ़ होता गया । लगा कि इस परिवार में मैं कितनी सुखी हूं ! किसी भाग्य-वती के भाग्य में ही होते हैं ऐसे मित्र-सहेलियां, और रिश्तेदार !

भादों आयी और बीत गयी । गणेशोत्सव भी यथासमय संपन्न हो गया । आशा बंधी, शायद अब वे घर पर रुकेंगे । परन्तु कहां ? उन्हें तो नाटक खेलने कहीं और जाना था ।

एक दिन संध्या समय घर आए। सासजी घर में नहीं थीं। बहुत दिनों बाद, चाय बनाने के लिए मुझे बाहर से ही आवाज दी :

"चाय बना दो।"

चाय बनाकर तखत पर रख दी। चेहरे की ओर ध्यान गया तो लगा, जैसे किसी चिंता से काला पड़ गया है। ठीक से चाय भी नहीं पी सके। जैसे-तैसे पी। धोती से मुंह पोंछा। बीड़ी सुलगाई और चल पड़े। जाते समय बोले :

"मेरी राह मत देखना।"

शाम हो गई। मंदिर में दिया जलाया। ससुरजी को ज्ञानेश्वरी का पाठ सुनाने बैठ गई। बाद में सासजी को खाना खिलाया। स्वयं खाने बैठी. पर कौर गले से उतरने को तैयार नहीं। मन अस्वस्थ हो आया। लगा, जैसे बाहर खड़े होकर कह रहे हों :

"मेरी राह मत देखना!"

सासजी को सर्दी लग गई थी, सो वे लिहाफ ओढ़कर लेटी थीं। सिर पर मलने के लिए दवाई लाई। उसे मेरे हाथों से लेकर तिरस्कार से बोलीं :

"कोई आवश्यकता नहीं, मलने की! नहीं तो जीवन भर सबसे कहती फिरोगी कि सास की सेवा-चाकरी करती थी। बाबू आया था क्या?"

"आए थे। चाय पीकर चले गए।"

"खाने कब आएगा? कुछ पूछा तुमने?"

मैं चुप रही। वे क्रोध से बोलीं :

"तुम क्यों पूछोगी भला? खाना गरम करके देना पड़ता है न? कब लौटने वाला है?"

"'राह मत देखना', कहकर गए हैं।"

"आग लगे इसके नाटकों को।"

सासजी और ससुरजी सो गए। मैं भी लेट गई। नींद भी ठीक से नहीं आ रही थी। हर वक्त खटका लगा रहता कि रात में कभी भी आकर आवाज देंगे।

रात बीत गई। सुबह हुई। मैं अपने नित्य के कामों में जुट गई।

सासजी चिंतित थीं। जैसे-तैसे चाय पी और उन्हें खोजने बाहर निकल पड़ीं। मैंने सफाई की। लीपना-पोतना निटाया। नहाकर खाना बनाने की तैयारी में लगी थी कि सासजी घबराई हुई थरथराती वापस आईं। ससुर को आवाज देकर बोलीं :

"काम पड़ा रहने दो। एक दिन रह जाएगा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा। पहले मेरे बाबू को ढूंढ़ो।"

ससुरजी बोले :

"आ...जावेगा।"

"जाने के लिए कह रही हूं तो निकल पड़ो। बेकार की बातें मत करो।"

फिर मेरी ओर मुड़कर बोलीं :

"एक घूंट पानी देना पीने के लिए।" पानी पीकर कहने लगीं :

"सब जगह हो आई। आग लगे मरों के मुंह में। सभी घर पर ही थे, अपने-अपने। पूछा, तो बोले, कल नाटक का अभ्यास जल्दी ही पूरा हो गया था। कोई आधी रात को। वह लौटा था, घर के लिए। लाज-शर्म त्यागकर कोलीबाड़े भी हो आई। मरे से पूछा तो बोला कि खेतों की ओर पेट साफ करने गया है। करमजली भी थी घर में। उससे पूछा तो बोली कि मुझे कुछ मालूम नहीं। अब क्या करूं? कहां ढूंढ़ूं?"

"बहिरबाड़ी...में...आंजर्ले...में...जाता...है...काकाजी... के ... यहां ... बजाने। वहां...देखूं?"

"पूछते क्या हो? जाकर देखो।"

ससुरजी के पीछे-पीछे वे भी निकल पड़ीं। घर में मैं अकेली ही रह गई। एकदम रुलाई फूट पड़ी। मन लगा रहे, सो छोटे-मोटे काम करती रही। कुछ भी हो, आखिर ब्राह्मणों-आप्तजनों के समक्ष अग्नि के सात फेरे जो लगाए थे?

तीसरे पहर नवशी तूफान की तरह घर में घुसी और माथा पीटती, रोती हुई बोली :

"ओऽऽ बहूरानी, अब किसके नाम का सिंदूर लगाएगी माथे पर?"

अंधेरा-सा छा गया मेरी आंखों के सामने। खड़ा रहना मुश्किल हो

गया। एकदम से नीचे बैठ नवशी को पकड़कर पूछा :

"क्या हुआ, नवशी ?"

"खाड़ी में मुर्दा मिला है।"

जैसे सारा विश्व आंखों के आगे घूम गया। मैंने आंचल से मुंह पोंछा और नवशी को लेकर बाहर निकल पड़ी। वह आगे-आगे और मैं पीछे-पीछे। रास्ते भर सोचती रही कि मैंने क्या खोया ? क्या पाया ? कितना जमा, कितना खर्च ? 'उससे' कहा, तू इनका रूप लेकर आया था तो मैंने तेरा स्वागत ही किया था। तिरस्कार भावना का स्पर्श तक नहीं होने दिया। अब उस रूप को तूने ही हटा लिया। जीवन-चित्र रीत गया। ठीक है ! अब इसका दुःख भी नहीं करूंगी। तुकाराम महाराज ने भी तो कहा है कि जिसके घर 'उसका' वास है उस मनुष्य की गृहस्थी सम्हलती नहीं। बाबा तो महान थे। परन्तु मैं छोटी होते हुए भी यही सब अनुभव कर रही थी। तुम्हारा कहना भी ठीक ही है। यदि कोई मनुष्य संसार और गृहस्थी के बंधनों से लिपट जाए तो उसे तुम्हारी सुध कहां ? इसीलिए शायद माता कुंती ने विपदाओं का वरदान हरि से मांगा था। कबीर भी यही कहते हैं कि सुखों को टालो, दुखों को अपनाओ, । जिससे तुम्हारा स्मरण निरंतर बना रहे !

चीखती-चिल्लाती नवशी, घटना के बारे में बताती चली जा रही थी। जो भी सुनता, हमारे पीछे चला आता। लोगों का जमघट पीछे-पीछे आ रहा था। खाड़ी पर पहुंची तो देखा, मृतदेह को पानी से बाहर निकाल ढककर रखा है। एक पेड़ के नीचे सासजी रो-रोकर बेहाल हुई जा रही थीं। लाश के पास जाने की शायद हिम्मत नहीं जुटा पा रही थीं। पास ही ससुरजी भग्न मुद्रा में बैठे थे।

मैं सीधे लाश के पास गई। चेहरे से कपड़ा हटाया। वह पूरी तरह कीचड़ से सना हुआ था। अपने आंचल से पोंछकर उसे साफ किया। पैर टेढ़े-मेढ़े हो गए थे, उन्हें सीधा किया। शरीर कुछ फूल गया था। आंखें खुली रह गई थीं। उन्हें बंद करने का प्रयास किया। पास ही में बैठ गई।

जनू काका मेरे पास आकर बोले :

"बहूरानी, अभी पंचनामा बाकी है।"

"होने दें पंचनामा।"

"तुम्हें किसी पर संदेह है ?"

मैंने गर्दन हिलाकर मना कर दिया।

"यह क्या बात हुई ? मुर्दा जब खाड़ी में मिला है तो..."

मैं चुप रही। जनू काका क्रोध से बोले :

"भाभी को सारे गांव पर वहम है। वामनराव से पूछा तो वह चुप है। तुम भी चुप हो। क्या सारे गांववालों को हथकड़ी पहनाने का विचार है तुम लोगों का ?"

मैंने धीरे-से कहा :

"किस पर शक करूं ? मुझे किसी के खिलाफ कुछ नहीं कहना है। कल मुझसे वे बोलकर गए थे कि मेरी राह मत देखना। वे आज नहीं रहे। मैं तो बस इतना ही जानती हूं।"

मुरुड़ के सरकारी अस्पताल में चीरफाड़ हुई। डॉक्टरी रिपोर्ट में लिखा था—"डूबने से मृत्यु !" मृत देह घर लाई गई। सासजी की हालत देखी नहीं जा रही थी। ससुरजी बेचारे क्या कर सकते थे ? फिर जो कुछ रस्में थीं, वे पूरी की। अंतिम बार चेहरा देखा। इसके बाद तो इस चेहरे को दृष्टि से ओझल ही होना था।

जैसे ही लोगों ने पार्थिव देह उठाई, सासजी दौड़कर आईं। दांत किटकिटाती रहीं। फिर अर्थी से लिपट गईं। पूरे गांव वालों को भला बुरा कहने लगीं :

"मेरा बाबू मरे, इसलिए तुम सबने मन्नतें मांगीथी। हो गया अब कलेजा ठंडा ?"

जनू काका बोले :

"भाभी, सारे गांव को कोसना हो तो बाद में कोसना। अभी छोड़ो।" वे नहीं मानी तो मेरी ओर मुड़े ;

"बहूरानी, तुम ही सम्हालो अब। इन्हें ले जाओ।"

मैं सासजी के पास गई। कंधे पर हाथ रखा। कहा :

"चलिए, छोड़िए अब।" इतना कहने भर की देर थी कि वे मुझ

पर टूट पड़ीं, मेरा मुंह नाखूनों से नोंच डाला। चिल्लाने लगीं :

"अरी, राक्षसी ! तूने ही मार डाला मेरे बाबू को ! मरी ने एक दिन भी उसे सुख न दिया। इसीलिए मेरा बाबू इधर-उधर मुंह मारता फिरता था।" मुझे दोनों हाथों से पीटती बोलीं :

"तेरे ही कारण मेरे सोने जैसे पुत्र को लोगों ने मार डाला। अब तू भी उसी रास्ते जा ! मर !"

इसी पल ससुरजी आगे आए। थरथराती आवाज में बोले, "बहुत.... हो.....गया....तमाशा। अब....बस....करो..."

सासजी चीखकर नीचे गिर पड़ीं और अंतिम यात्रा निकल पड़ी।

३८

जाना पड़ेगा। यह सब छोड़कर जाना ही पड़ेगा। सासजी मुझे यहां रहने नहीं देंगी। यहां चहुंओर जो कुछ भी था उससे मुझे अपार स्नेह था। पहली बार, जब यहां आई थी, तभी ऐसा लगा था, कि यह सब मेरा है। मैं इसकी हूं। इसकी सखी हूं, मित्र हूं, सेविका हूं। इतने वर्ष तो दुर्भाग्य-वश दूर देस में पड़ी रही। बड़े प्रयासों से इस कोंकण भूमि में आ पाई हूं। इससे दूर होने की तो कल्पना भी नहीं कर सकती। मौत ही इससे अलग करेगी। तब मुझे कंधे पर ले जाने वाले आपस में कहेंगे कि इस भूमि पर इसने आजीवन असीम स्नेह बरसाया। यदि इसने कोई अपराध किया, तो यह कि इन वृक्षों, लताओं से अथाह प्रेम किया। नारियल के इन ऊंचे-ऊंचे वृक्षों को इसने भाई माना ! सुपारी के वृक्षों को बहन माना ! केले के पेड़ और आम-कटहल आदि इसके सखा-सहोदर थे। इसकी अपनी कोई संतान भले ही न हो, परन्तु चंपक, जूही पर इसने मां का स्नेह बरसाया। अपार कष्टों से जब थककर चूर हो जाती तो इन्हीं आम-कटहल के पेड़ों तले विश्राम करती। अपने दुःख बेलों के कानों में कहती। अपनी व्यथा पहाड़ों पर करौंदों के सम्मुख प्रकट करती।

जब लोग कहते कि पतझड़ शुरू हो गया है, तो यह कहती :

"जैसे पुराने वस्त्र त्यागकर हम नये कपड़े पहनते हैं, वैसे ही यह वृक्ष भी पर्णान्तर की अवधि में पुराने पत्ते त्याग नये परिधान धारण करते हैं। यही जीवनचक्र है।"

ऐसी यह मिट्टी की काया, मृण्मयी, आज हम श्मशान में पहुंचा रहे हैं। परन्तु यह तो मात्र उपचार है। वह फिर लौटकर यहीं आएगी अपने इस विशाल परिवार में !

परन्तु यह सब त्यागना होगा। मैं कितना ही चाहूं, कितनी ही मिन्नतें, प्रार्थनाएं करूं, तब भी सासजी मुझे यहां से निकाल बाहर करेंगी। ऋणानुबंध का अन्त हो गया।

अरे, प्राणहर्त्ता ! क्यों बुलवाया मुझे यहां ? क्यों इस शरीर को घिसवाकर उसका लेपन समस्त वृक्ष-लताओं पर लगवाया ? क्यों मेरे मन में इनके प्रति प्रीत का बीज बोया ? और अब तू ही हाथ पकड़कर यहां से निकलवा देने पर तुला है ?

'देस निकाला' मत दे ! मत दे ! मत दे !!

हरि रे, मेरा और कोई नहीं ! कोई नहीं ! कोई नहीं !

यदि यहां से जाने से इन्कार कर दिया तो ? यदि सासजी हाथ पकड़-कर जबरन निकालना चाहेंगी तो कहूंगी, 'मुझे इन बेलों-लताओं से दूर मत करो। इस बगीचे में काम करते-करते मेरे प्राणपखेरू उड़ने दो, चाहे भूखा रखो ! कोई बात नहीं ! प्रायोपवेशन का व्रत रख लूंगी। जबतक शरीर में प्राण हैं, इन वृक्ष-वल्लरियों की सेवा करूंगी। जबतक कर सकूं ! आमरण सेवा का व्रत है मेरा। जब यह काया अति क्षीण हो जाएगी तो उसे यहीं कहीं किसी आम्रवृक्ष तले डालकर पड़ी रहूंगी। प्राण त्यागूंगी !'

प्राण निकलने से पहले हाथ-पैरों का चलन-वलन तो रुक ही जाएगा। तब भी मैं आंखें खुली रखने का भरसक प्रयत्न करूंगी। पता है, क्यों ? अन्तिम क्षणों में 'उस'का दर्शन होगा, जो इन सबमें निरतर वास करता आया है।

कौवे, चीलें जब इस देह को नोचने लगेंगी तब उनसे भी यही कहूंगी कि मेरी सारी काया तुम्हें समर्पित है। इसी से पेट भरो, परन्तु 'उस'की प्रतीक्षा में बिछी इन आंखों को वैसे ही छोड़ दो। इन्हें मत छूना !

यदि सासजी कहेंगी कि चाहे जहां मर, पर मेरे बगीचे में नहीं ! तब ?

तब भी मैं यहां से, इस भूमि को छोड़कर कहीं और नहीं आऊंगी। भिक्षा मांग लूंगी। किसी के भी बगीचे में काम कर लिया करूंगी। पर इस भूमि का त्याग मुझसे नहीं होगा।

ऐसी बीसियों बातें मन में उमड़ रही थीं। एक-एक दिन बीतता चला जा रहा था। ससुरजी की हालत तो मुझसे देखी नहीं जाती थी। सासजी के पास तो लोगों का आना-जाना हो रहा था। सांत्वना पाकर, रो लेने से उनका दुख कुछ कम हो जाता। पर ससुरजी ने तो बिस्तर ही पकड़ लिया। खाने के लिए पूछने पर तो उनकी रुलाई फूट पड़ती। खाया न जाता। उनसे कहती :

"आप ऐसा न करें। मेरे बारे में भी कुछ सोचें।"

उनकी हिचकियां बंध जातीं। वे कहते :

"मेरे....क्रिया-कर्म....उसने...करने...थे...सो...मैं....ही....उसके...कर... रहा हूं।" मैं समझाती :

"हर कोई, ईश्वर से, एक निश्चित समय लेकर जनमता है। जिसकी आयु समाप्त हो गई, वह चल देता है।"

बारहवीं और तेरहवीं भी हो गई। सारे क्रियाकर्म ससुरजी अत्यन्त दु:खी मन से करते रहे। कौए ने पिंड-दान नहीं स्वीकारा। इसका अर्थ ? आत्मा मुक्त नहीं हो पाई !

उस दिन तो ससुरजी ने पानी तक नहीं छुआ। भूखे-प्यासे रहे। बोले :

"मनु...आज...के...दिन...खाने-पीने...का...आग्रह...मत...करो !"

मन में तो यही विचार आ रहा था कि यहां से जाना पड़ेगा। चिंता तो इस बात की थी कि कैसे जा पाऊंगी ? दो महीने पहले मां का पत्र आया था। लिखा था :

"मैं ठीक हूं,
मेरी चिंता मत करना।
अपनी सेहत का ध्यान रखना।

वहां सब की सेवा मन लगाकर करना।
तुम तो अवश्य करती होगी।
परन्तु मुझसे रहा न गया !
सो लिखा।

जब मां के सामने पहुंचूंगी तो मुझे देख उनकी आंखें मानो फट जाएगी। नहीं ! मुझे नहीं जाना चाहिए। मैं यहां वापस जाने के लिए आई हूं क्या ? यदि हारकर गई तो तात्याजी की आत्मा को कितना कष्ट पहुंचेगा !

मैं यहां से कहीं नहीं जाऊंगी, चाहे प्राण ही क्यों न त्यागने पड़ें। मैं इस देस को छोड़ नहीं पाऊंगी। ऐसी ही मन:स्थिति में डोल रही थी कि एक दिन सासजी को गाड़ीवान से कहते सुना :

"कब निकलना पड़ेगा रे, यहां से ?"

"ऐसे ही, संध्या समय निकलना होगा।"

"देर तो नहीं हो जाएगी ?"

"नहीं।"

"जहाज तो पकड़ पाएंगे न ?"

"हां, जरूर।"

"तो मैं किसी और गाड़ीवान को तो नहीं देखूं ?"

"नहीं, कोई जरूरत नहीं।"

मुझे घोर आश्चर्य हुआ। ये कहां निकल पड़ीं ? पूछने का साहस नहीं हुआ।

रात में ससुरजी ने मुझसे पूछा :

"ये...कहां...जा...रही...हैं ?"

"मालूम नहीं !"

सासजी ने स्वयं ही उन्हें बताया :

"जा रही हूं मैं। तुम दोनों के बीच मूसल बनकर क्यों रहूं ?"

"कहां ?" ससुरजी ने पूछा।

"मसान में ! तुम दोनों को कांटे-सी खटकती हूं न मैं ?"

"ये विष-बाण क्यों ?"

"कोई विष बाण नहीं है; तुम्हारे मन की बात बोली है। और मैं कोई हमेशा के लिए नहीं जा रही।"

"लौटने वाली हो न ?"

"तोऽऽ? और देखो, किसान धान भले ही खलिहान में लाकर रखें ! उन्हें हाथ न लगाना। समझे न ?

अधिये वालों से रोकड़ा लेकर जा रही हूं। तुम और तुम्हारा बगीचा। साथ में दो छोटे खेत, वहां काम करो और खाओ।"

"पर जा कहां रही हो ?"

"दापोरा ! जीजी के घर। चार-छः महीने रहूंगी। फिर मन न लगा तो लौटूंगी।"

"पहुंचाने जाऊं ?"

"कोई जरूरत नहीं। मैं चली जाऊंगी।"

"पहुंचने पर चिठ्ठी देना।"

"वहां मुझे कोई नहीं खाएगा ! समझे ?"

कई बार मन में बात उठी कि मां को सासजी के हाथों पत्र भेजूं ! उसमें सारी बातें समझाकर स्पष्ट कर दूं, परन्तु यदि सासजी ने मां को पत्र नदि या तब ?

और स्पष्टीकरण भी किस बात का ? जो कुछ हुआ, क्या वह लिखने योग्य है भी ?

यदि उन तक सीधी, सच्ची बात न पहुंच पाई तब ?

न पहुंचे ! क्या फर्क, क्या अन्तर पड़ेगा उससे ? धूल आकाश में कितनी ही ऊंची उड़ान भरे, अंत में उसे नीचे आना ही पड़ता है। मां तो मुझे पूर्ण रूप से जानती हैं। पत्र में अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। यदि गलतफहमी होती है, तो होने दो।

सासजी ने चावल के लड्डू बनाकर सामान के साथ रख लिये। पसेरी भर कच्चा चिवड़ा रख लिया। पापड़, बड़ी आदि भी बांध ली। मैं मदद करने गई तो झिड़क दिया। बोलीं :

"तुम्हारा क्या भरोसा ? विष भी खिला दोगी। और अब तुम्हारा छुआ खाऊंगी मैं ?"

मन-ही-मन हंसी आई। फिर भी मदद करती रही। वे बिस्तरा नहीं बांध पा रही थीं, सो मैंने बांध दिया। संदूक को मैंने छुआ तक नहीं। उसमें उन्होंने सारे गहने रख लिये थे। मुझे जो गहने दुर्गा ने दिए थे, वे भी उन्होंने उसी संदूक में रख दिए थे। मैं मन-ही-मन बोली कि चाहे कुछ भी हो, कोंकण का यह सौंदर्य आप अपने साथ नहीं ले जा पाएंगी।

आज जब वे निकल पड़ीं तब आस-पड़ोस के लोग विदाई देने आए थे। सामने वाले घर की बुआजी भी आईं थीं। साथ में उनका पोता भी आया था। वह मेरे पास आ खड़ा हुआ। खंभे से टिककर मैंने पूछा :

"क्या नाम है, बेटे ?"

"नाम ? श्रीपाद।"

"बहुत अच्छा नाम है।"

वह बड़ी देर तक बातें करता रहा।

बैलगाड़ी आई तो मैंने सामान उसमें रखा। वे हम दोनों से एक शब्द नहीं बोलीं। आसपास के जो लोग विदा करने आए थे, उनसे बातें करती रहीं। उन्हें घर तथा बगीचे का ध्यान रखने के लिए कहती रहीं। इतने में पड़ोस के जोशीजी भी दौड़ते हुए आए। खुले बदन। छाती के बालों में हाथ फेरते। सासजी से पूछा :

"यह क्या ? कहां चल दीं आप ?"

"जा रही हूं, कुछ दिनों के लिए, बहन के घर ! अब धरा ही क्या है यहां ?"

मैं और ससुरजी एक तरफ खड़े थे। जोशीजी हमारी ओर देखकर हंसते हुए बोले :

"क्यों ? घर है। गृहस्थी है। अपने लोग हैं !"

सासजी हिकारत से बोलीं :

"अब जाते समय मुझे अधिक गुस्सा न दिलाओ।" और वे रोने लगीं। फिर कुछ रुककर बोलीं :

"अपने लोग ? अरे, नागिन पाली है मैंने घर में ! मरी ने डस लिया मेरे बाबू को..."

"ओह, यह क्या कह रही हैं आप ? खैर, जाने दें। आप हो आएं दो-चार दिन बाहर। यहां की चिन्ता न करें। हमलोग ध्यान रखेंगे ?"

जब गाड़ीवान जल्दी मचाने लगा तो सासजी गाड़ी में चढ़ीं। पत्थरों से रगड़ती, आवाज करती, गाड़ी चल पड़ी। फिर ओझल हो गई।

खाने का मन हम दोनों का ही नहीं था।

लालटेन की चिमनी चार-पांच दिनों से धुली नहीं थी। कंडे की राख से उसे साफ किया। बत्ती काटकर ठीक की। लालटेन जलाई। ठाकुरजी के कमरे में एक दीवार के सहारे ससुरजी खड़े थे और दूसरी से सटकर मैं बैठी थी।

मन जैसे रीत गया था। खाली-खाली गुफा-सा। बहुत उदासी छाई थी। लगा, रुलाई फूट पड़ेगी तो शायद जी हलका हो जाए। पर वह भी न फूटी। दम घुटने लगा था। जैसे किसी ने गला दबा दिया हो। ससुरजी ने धीमे से पुकारा :

"मनु !"

आवाज कानों में पड़ी और मेरे आंसू बहने लगे, जैसे संकेत की प्रतीक्षा में थे। यह कैसा रोना, जिसमें सिसकी नहीं, आवाज नहीं ! मात्र आंसुओं की अखंड धारा ! अब जी हल्का हुआ। सारी घुटन जैसे बह गई। ससुरजी भारी सांस छोड़ते बोले।

"अब...बुढापे...में...नई...जिम्मेदारी..."

"परन्तु पांडवों-सा वनवास नहीं। घर है। बगीचा है।" मैंने उत्साह से कहा।

"पर, बेटी..."

"आजतक घरवालों के लिए कष्ट उठाए। मेहनत की। अब इन सबके लिए मेहनत करेंगे। बाग बगीचा घर आंगन इन सबको भी तो हमारी जरूरत है न ?

"और पिताजी, यदि हमने चुपचाप बैठे रहने की ठानी भी, तो वह भी असंभव है ! हाथ-पांव हिलेंगे ही। कान तो सुनेंगे ही और आंखें

देखती रहेंगी ही ! वे अपना धर्म नहीं छोड़ेंगी। फिर देह तो..."

ससुरजी मेरी ओर देखते रहे। मैं बोलती जा रही थी,

"जब हाथ, पैर, शरीर अपने धर्म पर अटल रहेंगे तो हम क्यों पीछे हटेंगे ? निष्ठापूर्वक काम करेंगे।"

"वह...तो...ठीक...है...पर...किसके...लिए ?"

"इस घर के लिए ! इन नारियल-सुपारी के पेड़ों के लिए ! अब यही हमारा कुटुम्ब-कबीला है। उनके लिए कष्ट उठाएंगे। पिताजी, अब आप आराम करें ! इतना बड़ा आघात आपने सहा है ! आप बस मेरी रक्षा करते रहिए और देखिए, मैं कैसे काम करती हूं !"

"बड़ी...हिम्मत...है...बेटी, तुममें !"

अगले ही दिन से खुद को कामों में डूबो दिया। आंगन लीपना, घर पोतना, रंगोली सजाना, फूल-पौधों की ओर ध्यान देना, बड़े वृक्षों का दक्षता से लालन-पालन करने के साथ रोज ज्ञानेश्वरी का पाठ। निसर्ग से एकरूप हो जाने के लिए, उसके चरणों का पाठ लाभप्रद सिद्ध हुआ। काम करते समय मन में जब पंक्तियां साकार होतीं तब हाथ भी अपना काम सुचारु रूप से, सफलतापूर्वक, करने लगते।

ससुरजी पेड़ों की छांह में पाट के पानी में अपने पैरों को डुबाए मेरे कार्यों का निरीक्षण करते। समय का ध्यान उन्हें रहता था। कहते :

"अब...बहुत...हो...गया...बेटी। तनिक...आराम...भी...करो।"

मैं उत्साह से कहती :

"अभी कहां थकी हूं ?"

नारियल पेड़ों पर से उतारने नौकर आ जाते। फिर उन्हें घर ले जाकर करीने से जमा देती। सुपारी उतारने पर उन्हें धूप में सुखाकर छीलने का काम होता। फिर धूप में सूखने रखती। इन कामों में आंगन उखड़ जाता। उसे फिर गोबर-मिट्टी से लीपती। दिन भर की मेहनत के बाद रात में खूब गहरी नींद आ जाती।

उस रात अचानक नींद खुली। यही कोई तीन बजे होंगे। आंगन में आकर देखा तो चांदनी छिटकी थी। हाथ फैलाया तो जैसे उजियारा

हाथों से बहकर गिरता चला जा रहा हो। चारों ओर उजियारा-ही-उजियारा।

मंत्रमुग्ध-सी पिछवाड़े बगीचे में पहुंची। पाट के बहते पानी में खड़ी रही। जैसे चांदी बह रही थी पाट में! जगमगाता नीर निरन्तर मद्धिम आवाज में बहता जा रहा था। अंजुरी भर ली तो वह भी चांदी! कैसी अनोखी बात! फिर आगे बढ़ी और कटहल की निचली डाली पर जा बैठी। चारों ओर मेरे बंधु-बांधव खड़े थे। कमनीय केले के वृक्ष, दुबली-पतली सुपारी, ऊंचे नारियल, घने छायादार आम्र तरु, छोटे-छोटे फूलों के पौधे!

इन सबको यह अपूर्व रूप कहां से प्राप्त हुआ होगा? अलग-अलग पेड़-पौधे तो पहचाने जा सकते थे, पर उनका यह अपूर्व रूप? कौन प्रदान कर गया इन्हें यह? इतना गरिमामय उनका अस्तित्व। हवा के झोंकों के साथ सभी डोल रहे थे। जैसे एक-दूसरे का आलिंगन कर रहे हों। केले के पत्ते एक-दूसरे का स्पर्श कर थरथरा रहे हैं। सुपारी के शिखर एक-दूसरे को चूम रहे हैं। पत्ते आपस में गुथ जाते, एक तृप्ति का अहसास लिये।

ये तो विश्वमोहन की रासलीला की गोपियां हैं। 'वह' इस रास-लीला में रत है। एक गोपी का मुख अपनी ओर घुमा रहा है तो दूसरी के गालों का स्पर्श कर रहा है। तीसरी को इशारा कर रहा है तो चौथी को अंक में भर लिया है। पांचवीं को ऐसा आभास हो रहा है कि वह उनके आलिंगन में है। उसने 'उसे' पकड़ रखा है। फिर जैसे स्वयं का ही आलिंगन किया है! जब यह ध्यान आता है, तब द्वैत खो जाता है, अद्वैत का वास रहता है।

मानो इस आनंद के लिए मैं आतुर हूं, अपनी पूरी उत्सुकता के साथ, पर मैं तो अकेली! आनंद प्राप्त करूं, यही तो आस रहती है मन में।

ऐसा अपार आनंद चारों ओर, दिशाओं में भर गया है। और 'उसका' सखा बना है सर्द पवन का झोंका। वह भी 'उसके' साथ गोपियों को छेड़ता फिर रहा है। बेचारी गोपियों को इसकी सुध कहां? वे सारी तो 'हरिरूप' हो गई हैं। उनकी तो सुधबुध ही खो गई है। झोंके

के इशारे पर वे चल रही हैं। उसने डुलाया तो डोल गईं। वह रुक गया तो ये स्तब्ध हो गईं।

जहांतक दृष्टि पहुंच रही थी, वहां तक गोपियां-ही-गोपियां! यह रासलीला कब शुरू हुई? कब होगी इसकी समाप्ति? कुछ पता नहीं। उस लीलाधर की यह प्रतिदिन की क्रीड़ा होगी क्या? आकाश तले यह अपूर्व रासलीला!

सर्दी बढ़ती चली जा रही थी। मैं घर से शाल ओढ़कर बाहर निकली थी, फिर भी ठंड लग रही थी। पता नहीं, कितनी देर मैं 'उसकी' यह लीला देखती रही। फिर सोचा, मैं इतनी पागल क्यों हूं? मैंने हिस्सा क्यों नहीं लिया, इस भव्य नाट्य में? मैं उठी। एक-एककर कई वृक्षों-बेलों के पास गई। वे सब मेरे थे। मैं उन सबकी थी। उनके स्पर्श से मेरा शरीर थरथराया, जैसे उनमें समाई चेतना मुझमें उतर रही हो, उन हृदयों का भाव-विश्व इस हृदय में उतर आया हो।

सारे वृक्षों को एक-एक कर स्पर्श किया। वे सब मेरे अपने थे। कोई रूठने न पाए! केले के पौधे से हल्के-से लिपट गई मैं। उसका स्पर्श पहले तो ठंडा लगा। फिर धीरे-धीरे गर्माहट आती गई। मैं अपनी सुध-बुध जैसे खो बैठी। आंखें बंद किए, पता नहीं, कितनी देर उस स्थिति में बैठी रही। मन तो जैसे सारे भौतिक अनुभवों को पार कर कहीं और पहुंच गया था 'उसके' पास।

ससुरजी की आवाज ने जगाया मुझे। मेरे पीछे खड़े वे आश्चर्य से देख रहे थे। बोले:

"क्या...हुआ, मनु...बेटी?"

एक संध्या मैं दिये-बत्ती की तैयारी में लगी थी। ससुरजी बगीचे में थे। इतने में जोशीजी ओसारे में आकर बैठ गए। मेरी ओर घूरते हुए बोले:

"कितनी मेहनत करती हो तुम, भाभी? थोड़ा आराम भी किया करो। रोज देखता हूं, जैसे नौकरानी बनी हो!"

आंख उठाए बगैर मैंने जवाब दिया:

"मेहनत की अब आदत पड़ गई है।"

"पर मैं कहता हूं कि यह कोई उमर है तुम्हारी इतना कष्ट उठाने की ? अभी-अभी तो ब्याह कर आई थीं। अच्छा खाने-ओढ़ने के दिन हैं तुम्हारे। तुम तो देह को राख बना रही हो।"

"बगीचे में काम करने से खूब आनन्द मिलता है।"

"अरे ! कितनी बार मन हुआ कि तुम्हारे हाथों से फावड़ा लेकर फेंक दूं और..."

इस बार नजर उठाकर उनकी ओर देखा। वे हंसते हुए बोले :

"तुम्हारी उम्र की औरतें तो खूब शृंगार करती हैं। इधर-उधर घूमती-फिरती हैं। अब बाबू नहीं रहा, इसलिए शृंगार के लिए तो नहीं कहता, पर तुम्हें सेहत का ध्यान तो रखना ही चाहिए।"

इतने में ससुरजी की आहट मिली। जोशीजी एकदम उठ खड़े हुए और बोले :

"काकाजी की तबीयत तो ठीक है न ? पिछले दिनों बीमार पड़ गए थे। अच्छा, अब चलता हूं। किसी चीज की आवश्यकता पड़े तो अवश्य बताना। जाते समय काकीजी बोलकर गई हैं ध्यान रखने के लिए...।"

ससुरजी से थोड़ा-बहुत डरते थे वे। परन्तु उनकी अनुपस्थिति में कोई-न-कोई बहाना निकाल बात करने से चूकते नहीं थे।

जहांतक बन सके, मैं धोबी घाट भी नहीं जाती थी। उनके बगीचे से निकट ही था घाट। पर छोटे-मोटे कपड़े घर में ही धोने के अतिरिक्त अन्य कपड़े धोने के लिए वहां जाना ही पड़ता था, अन्यथा और काम रहते भी मैं उस ओर नहीं झांकती थी। धोबी घाट के लिए उनके बगीचे की ओर से ही जाना पड़ता। वे कितनी ही बातें करते। जैसे ही मैं धोबी घाट के लिए निकलती, वे नहाने का बहाना बनाकर मेरे साथ ही निकल पड़ते। मेरे सामने ही नहाते। खखारते। गाना गाते। मैं फिर भी अपना मन स्थिर रखती। कुछ न बोलती। मेरी ओर से कोई प्रत्युत्तर न पाकर वे अब चिढ़ने भी लगे थे।

ससुरजी से मैंने इस बारे में कुछ नहीं कहा। सोचती, इस अपंग, दुःखी जीव को इससे बहुत यातना पहुंचेगी ? मेरी रक्षा करने का वे भरसक प्रयत्न करेंगे। उन्हें अपार स्नेह है मुझसे। मेरे सारे कष्टों से वे पूर्णतया

परिचित हैं। मेरे लिए प्राण भी त्यागने से नहीं हिचकिचाएंगे। नहीं, मैं उनसे कुछ भी नहीं कहूंगी इस बारे में।

इन दिनों श्रीपाद रोज ही घर आने लगा था। मैंने उसे अक्षरमाला पढ़ाना शुरू किया था। वह भी स्लेट-पेंसिल लेकर रोज आता था। बहुत सारे प्रश्न उसके नन्हें दिमाग में उपजते। पूछता :

"मेरी मां बिंदी लगाती है। तुम बिंदी क्यों नहीं लगाती ?"

क्या उत्तर देती ? फिर भी कहा :

"मुझे नहीं लगानी चाहिए।"

"क्यों नहीं लगानी चाहिए ?"

"तुम्हारे चाचाजी घर में नहीं हैं, इसलिए।"

"कहां गए हैं वे ?"

मैं कुछ न बोली। उसे आगे पढ़ाने लगी।

और एक दिन श्रीपाद के हाथों एक चिट्ठी आई :

"वह जोशीजी हैं न, उन्होंने दी है। बोले, चिट्ठी पहुंचाओगे तो मिसरी की दो डलियां दूंगा। और यह भी कह रहे थे कि उस लूले के हाथ मत देना। और बोले, चिट्ठी का जवाब जरूर लाना। जवाब क्या होता है, चाची ? और लूला क्या होता है ?"

मैंने उसके मुंह पर हाथ रख दिया। चिट्ठी खोले बगैर ही फाड़कर फेंक दी।

अब क्या करूं ? एक उपाय सूझा। शाम को ससुरजी से पूछा :

"हमारा घर, बगीचा देखने की दादा की बड़ी इच्छा थी।"

"दादा...यानी...दुर्गा...के...पति...न ?"

"जी हां, वही। मैंने बताया था न, उसके बारे में ?"

"हां...बताया...था...चित्रकार।"

"हां, वही। उन्हें लिख दूं, समय हो तो यहां आएं।"

"लिख दो।"

"हमलोगों का मन बहल जाएगा। वे यहां चित्र बनाएंगे..."

"बुला लो।"

"लिखती हूं कि दुर्गा को भी साथ लावें।"

"लिख दो।"

मैंने तुरन्त पत्र लिख दिया :

"चरणों में सादर प्रणाम,
बहुत दिनों से आपकी कुशलता के समाचार नहीं मिले।
बहन से नाराजगी क्यों ?
यहां के समाचार तो अबतक विदित हो ही गए होंगे। घर में मैं और ससुरजी हैं। यदि आपके पास समय हो तो दोनों ही यहां आने की कृपा करें। आने से पहले पत्र अवश्य दें, ताकि आपके बंदरगाह से यहां तक आने की व्यवस्था कर सकूं। इससे आपको सुविधा होगी।"

दस दिन बाद जवाब आया :

"पूर्णमासी के दिन जहाज से रवाना हो रहा हूं। बंदरगाह पर किसी को भेज दें। स्वयं आने का कष्ट न करें। आपकी शिष्या आजकल मायके गई है। अतः अकेला ही आ रहा हूं। मात्र दो दिन ही रह पाऊंगा।"

पूर्णमासी के दूसरे दिन, प्रतिपदा को, गाड़ीवान को बंदरगाह भेज दिया। उसे कई बार समझाकर कहा, "तीखी नाक है, लंबे बाल हैं। उंगली में हीरे की अंगूठी पहनते हैं।"

"बाल लंबे हैं तो पहचान लूंगा।"

"और, सब लोग नाव से जबतक उतर नहीं जाते, रुके रहना, नहीं तो भेंट नहीं होगी।"

"आप चिन्ता न करें। मैं उन्हें ले आऊंगा।"

श्रीपाद ने पूछा,

"आज कौन आने वाला है ?"

"हमारे भाई।"

"जब भाई आते हैं, तब क्या आंगन में रंगोली सजाते हैं ?"

दिन भर वह मेरे आगे-पीछे डोलता रहा। शाम को जब जहाज आने का समय हुआ तो बैलगाड़ी की प्रतीक्षा करता रहा। दो-एक बार दौड़कर आया भी बताने :

"गाड़ी आ गई !"

परन्तु वह गाड़ी किसी दूसरे की थी। अन्त में मैंने उसे समझाया कि जब गाड़ी आंगन के द्वार पर रुकेगी, तभी बताने आना।

गाड़ी आकर रुकी। दादा कूदकर नीचे उतरे। मैंने अन्दर से ही उन्हें देख लिया। मन एकदम भर आया। दौड़कर अन्दर वाले कमरे में गई। दरवाजे से सिर टिकाकर बहुत रोई।

मन को संयत करना ही था। पिछवाड़े जाकर मुंह धोया। फिर बाहर आई। दादा, ससुरजी से बातचीत करते बाहर आंगन में खाट पर बैठे थे। मैंने झुककर चरण स्पर्श किया। वे मेरी ओर देखते रहे। आंसू छिपाने के लिए मैंने पलकें झुका लीं। एक खामोशी छा गई। अन्त में मैंने ही पूछा :

"सेहत क्यों गिर गई है इतनी ?"

"सेहत गिर गई ?"

"तो और क्या ? चेहरा कैसा हो गया है।"

"नहीं, यह तो यात्रा के कारण..."

"खैर, आप पहले नहा लें !"

"और पानी ?"

"गरम कर रखा है। सर्दियों की इस शाम को मैं आपसे ठंडे पानी से नहाने के लिए नहीं कहूंगी।"

दादा उठे। चाबियों का गुच्छा लेकर संदूक की ओर बढ़े। मैंने कहा :

"चाबी मुझे दे दें, मैं निकाल देती हूं कपड़े।"

"उसमें पेंटिंग का सामान भी है।"

"मालूम है मुझे, मैं उसे हाथ तक नहीं लगाऊंगी।"

धोती, कुर्ता और तौलिया निकाला। साबुन की डिबिया साथ ले उन्हें नहान घर दिखाने ले चली।

"हमारे कोंकण का देहाती स्नानगृह है।"

दादा मेरे पीछे-पीछे आ रहे थे। क्षण भर रुके। मुझे गौर से देखा। फिर धीरे-से बोले :

"एक बड़े संकट से उबर गया।"

मैंने उनकी ओर देखा। बोले :

"किसी को सांत्वना देने के लिए जाना, मुझे बहुत बड़ा संकट लगता है।"

गर्दन झुकाकर मैंने जवाब दिया :

"जीवन में कोई अतिथि बनकर आया। जो मेरा जन्म-जन्मान्तरों का है, उसे मिलवा दिया और अपने रास्ते चल दिया। जो घटित हुआ, उसका मात्र इतना ही अर्थ समझ में आया।"

पलभर रुककर दादा बोले :

"आपसे यही उम्मीद थी। इससे अलग कुछ दीखता वो आश्चर्य होता। अच्छा! बहुत थक गया हूं। जब से जहाज ने बंबई का किनारा छोड़ा, तब से जंगले को पकड़, खड़े होकर ही सफर किया है। सागर के अपार रूप की कोई तुलना ही नहीं।"

"बहुत सुंदर है न?"

"अति सुंदर! लगा कि वहीं उसका चित्र बनाऊं। पर रुक गया। सोचा, फिर कभी सही। अपार रूप के निरीक्षण से भी दृष्टि थक जाती है। रूप का भार सह नहीं पाती।"

नहानी में खूंटी पर कपड़े टांगे। साबुन रखा। एक बड़े बर्तन में गरम और दूसरे में ठंडा पानी रखकर मैंने कहा :

"जी भरकर नहाइए। पानी की कोई कमी नहीं है। अपने-आप चलकर आया है दरवाजे तक। गरम पानी और भी है, चूल्हे पर। मांग लीजिएगा।"

"मैं देख लूंगा सारा! आप चिन्ता न करें।"

रसोई की ओर मुड़ी। सेमल की फली और गीला खोपरा डालकर दाल बनाई। ताजे पापड़ बनाए थे, उन्हें सेंका। भात बनाया। चौकी और थाली पोंछकर रख दी। एक बार नहानी की ओर मुंह करके कहा :

"आप धोती धोने का काम रहने दें।"

"नौकर है क्या?"

"नौकरानी है।"

स्नान कर, दादा बाहर आए। मैं उनके संदूक से कंघी, शीशा तथा पोमेड की शीशी निकालकर बाहर रख आई थी। उन्होंने कंघी की। इत्र की दो बूंदें कुर्ते पर छिड़कीं और पूछा :

"खाना तैयार है?"

"आ जाइए।"

चौकी पर बैठते हुए बोले :

"मैं डर रहा हूं।"

"क्यों?"

"यही कि यदि यहां एकाध सप्ताह रह गया तो मैं भी ध्यान-धारणा में लग जाऊंगा।"

"कोई आवश्यकता नहीं है उसकी, दादा।"

"फिर?"

"आप तो सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाएं। आपके हिस्से यही काम है। संत ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है कि अपना कार्य करते रहो, वही परमपिता परमेश्वर की सेवा है।"

"परन्तु किसे कौन-सा कार्य करना है इसका निर्णय कौन करेगा?"

"उसे तय नहीं करना पड़ता। मन-बुद्धि यदि जागृत है, तो निर्णय अपने-आप हो जाता है। सबकुछ स्पष्ट होकर स्वयं सामने आ जाता है। अरे, यह क्या? आप भूखे हैं और मैं प्रवचन सुनाने लग गई। खाना तो परोसा ही नहीं।"

"आप पहले मुझे ठाकुरजी वाला कमरा दिखाएं।"

"किसलिए?"

"नमस्कार तो करना ही है।"

उन्हें कमरा दिखाया। वे ठाकुरजी के समक्ष हाथ जोड़कर पांच मिनट खड़े रहे। दीये की लौ में मूर्तियों का निरीक्षण किया। लौटकर आए और चौकी पर बैठते हुए पूछा :

"क्या बना है, भोजन में?"

"खास कुछ नहीं। सिर्फ दाल और चावल। साथ में पापड़। बहुत

भूख लगी होगी, तभी आप मेरे हाथ का बना खाना खा पाएंगे, अन्यथा कौर निगलना भी कठिन होगा।"

"वह मैं देख लूंगा।"

दादा ने भरपेट खाना खाया। खाते समय एक शब्द भी नहीं बोले। हाथ धोते समय कहने लगे :

"पूरा श्लोक याद नहीं आ रहा है, वर्ना सुना देता !"

"कौन-सा ?"

"वही, जिसमें अन्त में आता है, 'सुखी भव'।"

"अन्नदाता तथा भोक्ता पाककर्ता..."

" 'सुखी भव', आत्मा तृप्त हो गई, इतनी स्वादिष्ट दाल बहुत दिनों बाद खाई। घर में खाना बनाते हैं, महाराज। आपकी शिष्या की बात क्या कहूं ? इजारदारों की लाड़ली बेटी ! जहां खाने का सोडा पड़ना हो, वहां कपड़े धोने का सोड़ा भी चलता है।"

"यह तो आप कुछ अधिक ही बता रहे हैं।"

"अच्छा बाबा ! पर आज का भोजन अपूर्व था।"

"भूख अपूर्व रही होगी।"

"चलिए, वही सही।"

"आप कुछ देर ससुरजी से बातें करें, तबतक मैं बिस्तर लगा देती हूं, बाहर तखत पर, हमारे यहां गद्दा नहीं है।"

"आपका आंगन ही बहुत सुन्दर है। बिस्तर न डालें तो भी चलेगा! मैं सिर के नीचे हाथ रखकर सो जाऊंगा।"

"अरे, जो कल तकलीफ हुई तो मुझे ही सेवा करनी होगी।"

"आप लोग भोजन नहीं करेंगे ?"

"ससुरजी शाम को कुछ नहीं खाते और मैं।"

"मतलब वही।"

"रहने दें।"

बाहर तख्त पर कंबल बिछाया। उस पर एक गुदड़ी डाली। दादा की लाई चादर बिछाई। घर में एक तकिया था, वह रखा। वे साथ मे

जो शाल लाये थे, उसे पैताने में ठीक से रखा। पानी का लोटा भरकर सिरहाने रख दिया। फिर कहा।

"आपका बिस्तर लगा दिया है।"

"और आप लोग ?"

"हमारा अभी नित्य पाठ बाकी है।"

"नित्य पाठ ?"

"ज्ञानेश्वरी का।"

"मैं भी सुनूंगा।"

"अनाड़ियों का पाठ क्या सुनेंगे भला ? आप सो जाएं। थक गए होंगे।"

"आज तो आपकी आज्ञा का पालन कर लेता हूं, परन्तु कल..."

"कल की बात कल देखेंगे !"

सुबह आंगन में पानी छिड़क रही थी कि दादा उठ बैठे। रंगोली सजाने बैठी तब बोले,

"एक बात कहूं ?"

"अवश्य।"

"रात मैं यहां लेटा रहा। आप ज्ञानेश्वरी का पाठ कर रही थीं। आपके आदेश का पालन करने के लिए यहां से उठा नहीं। आपका स्वर ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे मंदिर में बजती मधुर घंटियां। सुनते-सुनते कब आंख लग गई, पता ही नहीं चला। बड़ी गहरी नींद सोया। आंगन छींट रही थीं, तब नींद खुली। जैसे सब एक ताल में चल रहा है। ऐसा लगा कि उठकर चरण स्पर्श कर लूं तब दूसरे काम करूं।"

हंसते हुए मैंने कहा :

"दुर्गा से भी ऐसी ही बातें करते हैं क्या ?"

"उस जेलर से ? बाप रे बाप !"

"अब बस भी करें ! उठिए। गरम पानी रखा है। मुंह धो लें। तबतक चाय बना देती हूं। नाश्ते में क्या बनाऊं ?"

"कुछ भी चलेगा।"

मैंने नाश्ते में खास कोंकण के 'पोहे' बनाए। नारियल का दूध,

गुड़, इमली का रस डालकर। दादा को बहुत पसन्द आए।

"स्वाद किस चीज का अधिक है? यहां के पानी का? या आपके हाथ का?"

"अब और तारीफ न करें,। वरना सारे मुहावरे समाप्त हो जाएंगे!"

"अब क्या कार्यक्रम है?

"मैंने श्रीपाद को बुलवाया है। उसे साथ लेकर पिछवाड़े की पहाड़ी पर घूम आइए। पर देर न करें।"

श्रीपाद को साथ लेकर दादा चले गए। खाना बनाया। दाल, चावल, रोटी और नारियल की चटनी। पूजा-पाठ किया और दादा की राह देखती रही।

उनके लौटने में बहुत देर हो गई। आए तो पसीने से तर थे। हंसते हुए बोले:

"कह तो रहा था कि जल्दी लौटूंगा, लेकिन पहाड़ियां, खाइयां देखते-देखते समय कब बीत गया, पता ही नहीं चला। मसूरी, श्रीनगर, ऊटी, मैं सब देख चुका हूं। वहां का प्राकृतिक सौंदर्य अपार है। उसका वर्णन करना भी आसान नहीं, पर लगा कि वह सौंदर्य यक्ष-गृह का है और आज ...आज जो कुछ देखा, वह तो कुछ और ही है। यहां का यह सौंदर्य तो अपने घर-आंगन जैसा अपना है। सोचता हूं, आजतक इस कोंकण भूमि के दर्शन क्यों नहीं किए? अब भी नहीं आता, तो वंचित रह जाता इस अनोखे और दिव्य सौंदर्य से!"

मैं उनकी ओर देखती रही। मुझे यूं देखते देखकर बोले:

"ऐसे क्यों देख रही हैं?"

"नहीं, मैं यह देख रही हूं कि जब किसी को इस भूमि के वास्तविक दर्शन होते हैं, तो वह उसका वर्णन कैसे करता है!"

ससुरजी और दादा भोजन करने बैठे। ससुरजी ने पूछा:

"हमारा...देहात...कोंकण...कैसा लगा? पिछड़ा...हुआ... है न?"

"कैसा लगा? मैं चित्रकार हूं। यहां मेरा धंधा चलेगा नहीं, वरना मन तो हो रहा है कि यहीं एक छोटा-सा घर बना लूं और यहीं रहूं!"

मैंने आग्रहपूर्वक कहा:

"घर बनाने की भी क्या आवश्यकता? यह घर भी आप ही का है! चाहे जितने दिन रहें, दादा! चित्र बनाएं! इस समय भी केवल दो दिन की छुट्टी लेकर क्यों आए आप?"

"काम से जाना होगा। पालनपुर के नवाब साहब का चित्र बनाना है। उनसे भेंट करनी है, बम्बई में। दिन तय हो गया है, अन्यथा यहां से निकलना कठिन ही है!"

"गर्मी में...आएं...तब...आम...काजू...कटहलों...का...मौसम...होता... है।"

"तब तो अवश्य आएं, दादा! परन्तु पहले एक बार भादों के बीतते दिनों में आएं। तब देखेंगे आप इस भूमि को अपने पूरे साज-श्रृंगार के साथ!"

भोजन करके दादा सो गए। शारीरिक श्रम की उन्हें आदत नहीं थी। बहुत देर तक सोते रहे। मैं फावड़ा उठाकर बगीचे की ओर चल दी।

बगीचा साफ किया। सुपारियां चुनीं। नारियल की टहनी नीचे गिरी थी, उसे यथास्थान रखा। दो साल पहले ससुरजी 'सिंगापुरी' नारियल का पौधा लाये थे। चूहे ने कुतरकर उसमें बिल बना लिया था। ससुरजी ने स्वयं रार भरकर ऊपर से केले की पट्टी बांध दी थी। हल्के से उसे खोलकर देखा। अब वह ठीक लग रहा था।

केले में नए अंकुर फूटे थे। चूहे न खा पाएं, इसलिए उन पर सुपारी के पेड़ के पतले छिलके लपेट दिए थे। उन बढ़ते अंकुरों को खोलकर देखा। कहीं-कहीं पत्ते सूख रहे थे, उन्हें काट डाला। फिर बगीचे में पानी देने का काम शुरू किया। उसमें मैं इतना खो गई कि दादा कब वहां आए, पता ही नहीं चला। वे आम के पेड़ तले बैठे चित्र बना रहे थे।

"आप कब उठे, दादा?"

"बहुत देर हो गई।"

"फिर चाय के लिए आवाज क्यों नहीं दी?"

"ससुरजी ने बताया, आप बगीचे में हैं। यहां आकर देखा तो आपको काम में तल्लीन पाया। सोचा, एक बार तो अनुमति मिल ही चुकी है, चित्र बनाने की ! उसी अनुमति को ले आज चित्र बनाने बैठा था। देखें, बन भी पाता है या नहीं ?"

"बन गया चित्र ?"

"उसे बाद में देखेंगे। पहले यह बताइए कि आप इतनी एकाग्रता जुटा कैसे पाती हैं ?

"इतनी यानी..."

"करीब आधे घंटे से मैं यहां बैठा हूं। किस कोण से चित्र अच्छा बन सकेगा, यह तय नहीं कर पा रहा था, परन्तु आपको मेरी उपस्थिति का अहसास तक नहीं हो पाया !"

संकोच से मैं बोली,

"इसकी चर्चा फिर करेंगे। पहले चाय बना दूं।"

"मैं चित्र पूरा कर लूं, फिर आता हूं।"

शाम को दादा खाड़ी का एक चक्कर लगा आए। दिया-बत्ती होने के बाद बोले,

"आज मैं ज्ञानेश्वरी का पाठ सुनने के उपरान्त भोजन करूंगा।"

वे दोनों सामने बैठ गए। मैंने ग्रंथ खोला।

"जो परिच्छेद आपको सर्वाधिक प्रिय हो, उसे सुनाइए।"

"इसके तो सारे परिच्छेद ही मिसरी की डली के समान हैं। चुनाव कठिन है !"

"फिर भी, जिसमें इस धरित्री के स्नेह संबंध के बारे में लिखा हो।"

मैंने तेरहवें अध्याय का आठवां श्लोक निकाला कहा,

"दादा ! ज्ञानेश्वर माऊली का एक अभंग है, मातृभूमि का स्तवन है, पर थोड़ा अलग। वाल्मीकि गंगास्तोत्र में कहते हैं,

'त्वत्तीरे वसतः त्वदम्बु पिबतः त्वद्वीचिषु प्रेखतः।
त्वन्नाभस्स्मरतः त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीर व्ययः॥'

मां गंगा, तुम्हारे तट पर वास करते, तुम्हारा जल-प्राशन करते,

तुम्हारी लहरों में खेलते, जब सर्वार्थ से तुम्हारा हो जाता हूं, तो उसी क्षण यह तन त्याग दूं। यही इच्छा है।

ठीक यही भाव है, ज्ञानेश्वर महाराज के काव्य में। वही अनन्यता, वही श्रद्धा ! यहा श्रीहरि ने भूमि का रूप रक्खा है। इस धरती के जल, अग्नि, वायु और आकाश में मरणोपरान्त एकाकार हो जाने का प्रयास है। यहां जो भाव श्रीहरि के लिए हैं, ठीक उन्हीं भावों में, शब्दों में, वे गुरु के प्रति आदर प्रकट करते हैं। वही असीम श्रद्धा ! वही एकान्त भक्ति! यहां तो वे गुरु को सर्वस्व समर्पित कर रहे हैं:

श्रीगुरु का आसन मैं,
कंठ की माला मैं,
माथे पर लगा चंदन भी मैं !
जब श्रीगुरु भोजन करेंगे,
तब उनके साथ भोजन करने वाला मैं,
उन्हें तांबूल देने वाला भी मैं,
उनकी जूठन उठाने वाला भी मैं !
जबतक यह शरीर है, तबतक यही एकविध उपासना।
और मरणोपरान्त !
फिर यह धरती भी मैं,
और उसका परिवार भी मैं।
यह मृण्मय शरीर,
इस धरती में,
वहां विलीन होगा,
जहां मेरे श्रीगुरु का वास होगा !
जहां मेरे गुरु के चरण होंगे,
उस मिट्टी में इस शरीर का,
भूतल में मिला दूंगा।
मेरे स्वामी बड़े ममत्व से,
जिस जल का स्पर्श करेंगे,
उस जल में इस शरीर का जलतत्व,

में विलय कर दूंगा ।
जिन दीपों से श्रीगुरु की आरती उतारी जाएगी,
उन दीपों की ज्योति में,
इस शरीर का तेज तत्व में विलय करूंगा,
जिस पंखे से श्रीगुरु को हवा की जाएगी,
उसमें मैं,
अपने प्राण लय करूंगा ।

"उसका' हो जाना ऐसा है दादा ! अतुलनीय..."

कंठ भर आया । अधिक न बोल सकी । आंसू झरने लगे । धीरे-से उन्हें पोंछ डाला ।

दादा ने एक दीर्घ श्वास छोड़ी,

"अब समझ पाया हूं कि आपका स्फूर्ति-स्थान कहां है ! धरती मां पर आपकी जो अपार श्रद्धा है, उसका मूल स्रोत आज विदित हुआ । पिछले दो दिनों से सबकुछ देख रहा हूं । आया तो था उन असंख्य आरोपों के बारे में जवाब-तलब करने, जो आप पर लगाये गए हैं । परन्तु अब कुछ नहीं पूछूंगा ।

"जिसके आसरे आप इस देश में आईं, वह आसरा छिन गया । आप दोनों पर कितना बड़ा आघात हुआ ? लगा था कि आप दोनों पूरी तरह टूट चुके होंगे । परन्तु देखा तो पाया कि आप इस भूमि की सेवा उसी निष्ठा से कर रहे हैं जैसी होनी चाहिए । वही एकाग्रता ! वही तन्मयता ! आप दोनों तो जैसे इस माता के पूजन में पूर्ण रूप से खो गए हैं ।"

ससुरजी हाथ से इशारा करते बोले :

"मैं...नहीं...मेरा...टूटा...मन...इस...बेटी...के...कारण...लग...गया..."

मैंने बीच में ही कहा,

"ऐसा न कहें ।"

"तुम...मुझे...रोको...मत...मुझे...बोलने...दो ! ढोरों...सी...पिटाई...की । सारा...शरीर...घावों...भरा । फिर...भी...मुंह...से...आवाज...नहीं ...हंसते...हुए..."

दादा आश्चर्यचकित रह गए बोले :

"ये क्या कह रहे हैं, आप ?"

"मैं...स्वयं...उसका...बाप...गवाही...देता...हूं..."

"महान हैं आप, मनु बहन ! महान् ! कोई दूसरा शब्द नहीं है मेरे पास, आपके लिए !"

मैंने गंभीरता से कहा :

"दादा, क्यों लज्जित करते हैं ? यदि आप..."

"किसी को शौक नहीं है आपको लज्जित करने का । मैं तो पहली भेंट में ही जान गया था कि आप बहुत ऊपर उठ चुकी हैं ।"

"दादा, क्यों मुझे अपनों से दूर धकेल रहे हैं ? मैं भी आपकी ही तरह हूं । लेकिन 'जिस' के आसरे जीवन की यह टूटी नैया चल रही है, वही बहुत महान है, निस्सीम है ।

"संत ज्ञानेश्वर ने बाल्यावस्था में ही अपार कष्ट सहे और अपमान सहे । परंतु अंत में समाधि-शिला पर बैठे, तो पता है, उन्होंने क्या कहा ? उन्होंने श्रीहरि से विनय की,

'हे भगवान् ! बहुतेरे सुख दिए, जीवन भर मुझे । अब एक ही विनती है, इन अंतिम क्षणों में ! इसके बाद मुझे निरंतर अपने चरणों के पास ही रखना !

"उनके मन में किसी के प्रति क्रोध न था ! क्षोभ नहीं । मत्सर नहीं । ईर्ष्या नहीं । जलन नहीं । उन्होंने स्वयं कहा था कि 'जो सारे प्राणिमात्र में बसा है, उससे द्वेष कैसा ? यही है, उसका साक्षात रूप !'

"श्री ज्ञानेश्वर महाराज,
मेरे परम गुरु हैं ।
मुझे किसी से द्वेष करने का अधिकार नहीं, दादा !
और द्वेष भी किससे ? अपने पति से ?
नहीं ! वे मेरे सर्वस्व थे ।
मन अपराध से भरा है तो मेरा,
क्योंकि मैं ही उन्हें कभी संतुष्ट नहीं कर पाई !"

वातावरण में स्तब्धता छा गई। कुछ क्षणों तक कोई भी बोलने की मन:स्थिति में न था।

अंत में ससुरजी भारी आवाज़ में बोले :

"मैं...बिवश...हुआ...इसका...मुझे...दु:ख...नहीं। इसने...हमारे...कुल...को...धन्य...किया...।"

इतना सुनना था कि मन का बांध टूट गया। वहीं लुढ़क गई। जी भरकर रोई उस दिन, कुछ सम्हलने पर उठ बैठी। आंखें पोछीं और कहा,

"दादा किसी शुभ घड़ी में मैंने अपना जीवन श्रीहरि के चरणों में समर्पित कर दिया।

तब से आजतक यह धूप-छांव का खेल चल रहा है। कभी घना अंधेरा, तो कभी आलोक छा जाता है। मुझे विश्वास है कि एक क्षण ऐसा अवश्य आएगा, जब यह मिट्टी का घड़ा उस अमृत सागर में डूब जाएगा और तब वह सूरज उगेगा, जिसका अस्त नहीं !"

अचानक पंक्तियां झरने लगीं :

"कभी तो,
सूखे, तुलसी के बिरवे में
गंधमयी मंजरी फूटेगी।
कभी तो,
सूखे आम्रतरु से
खिले बौर की सुगंध फैलेगी।
कभी तो,
आकाश से चांदनी
मेरे आंगन में बरसेगी।
कभी तो,
धरती को चीर,
शीतल जलधारा, उफनेगी।
कभी तो
मुझ दुर्बल के आंगन,

'उसकी' मधुर बांसुरी गूंजेगी।"

दूसरे दिन दादा लौटने वाले थे। कुछ देहाती दालें, पापड़, अमचूर आदि उनके लिए बांध रही थी। दिन भर आंसुओं की आंख-मिचौनी चल रही थी।

संध्या समय गाड़ी दरवाजे पर आ खड़ी हुई। दादा का बक्सा और अन्य सामान गाड़ी में रखा। ससुरजी के चरण स्पर्श कर दादा गाड़ी के पास आए। दिन भर मुझसे नजरें चुराते रहे। मैंने उनके चरण स्पर्श किए तब आवाज को संयत करते हुए बोले :

"आप से पहले जन्म लिया है, इसलिए बार-बार प्रणाम स्वीकारना पड़ता है। पहले जन्म लेना तो मानो अपराध ही हुआ। खैर, अब चलता हूं। आया तो था बहुत समझाने-बुझाने। वहां सभी ने बहुत-कुछ समझा देने का आदेश दिया था। मैं हामी भरता रहा। परन्तु उसी क्षण मन जता रहा था कि तुम मूर्खता कर रहे हो। आकाश को छूने का यह झूठा प्रयास क्यों ?

"वही मूर्खता साथ लिये जा रहा हूं ! एक बात कहूं ? आप जहां पहुंच चुकी हैं, वहां तक हमारी पहुंच नहीं। जिसके सहारे आप जीवन बिता रही हैं, वह आपका संरक्षण करने में समर्थ है। 'उस' ने अपने शंख का स्पर्श आपके मस्तक से कराया है, मनु बहन ! चलता हूं।"

आंखें पोंछते वे गाड़ी में जा बैठे। गाड़ी चल दी। लगा, अच्छा ही हुआ मैंने शिकायत वाली कोई बात नहीं की !

४०/

अब आम फलने लगे थे। पड़ोस वाले घर के मालिक तीन माह की छुट्टी लेकर आए थे, बंबई से। साथ में मां, पत्नी और बच्चे। घर भर गया।

तीन-चार दिनों बाद हमारे घर आए। ससुरजी को प्रणाम किया।

"पहचाना मुझे ? मैं प्रभाकर हूं।"

"क्यों...नहीं...पहचानूंगा ?...इस...बार...जल्दी...आए ?"

"पिछले साल दो-चार दिनों में भागना पड़ा । छुट्टियां बाकी थीं, सो ले लीं । न लेने पर तो फिर नहीं मिल पातीं । व्यर्थ हो जाती हैं । छोड़ना क्यों ?"

"मां...पत्नी...सकुशल...हैं...सब ?

"जी हां, बड़ा लड़का वहीं रुका है । परीक्षाएं समाप्त होते ही आ जाएगा । मैं कह रहा था..."

"बोलो ।"

"सुना है, भाभीजी पाठ करती हैं ।"

"ज्ञानेश्वरी का ।"

"यदि अनुमति दें तो मैं भी आऊं सुनने ?"

"आ...जाना... । एक...बार...उससे...पूछ...लो...बाहर...बगीचे में... है ।"

वे बगीचे में आए । मैं अरबी के पत्ते चुन रही थी । बीच में उगा अंकुर ! उससे लिपटा दूसरा ताजा पत्ता । और इन दोनों को अपने अंक में लेता तीसरा पत्ता । इन तीनों को छोड़ फिर बाजू के पत्ते काटने होते हैं । मेरा काम कौतूहल भरी नजरों से देखते रहे । जैसे ही मेरा ध्यान उनकी ओर गया वे बोले :

"मैं, प्रभाकर हूं । आपका पड़ोसी । बम्बई में एक बैंक में काम करता हूं । तीन महीने की छुट्टी लेकर आया हूं । तीन महीने यहां आम, कटहल का स्वाद चखूंगा और फिर ताला लगाकर निकल जाऊंगा । समय काटने के लिए कुछ पुस्तकें लाया हूं । परन्तु इसके अलावा भी एक कार्य करना चाहता हूं । आपके ससुरजी से अनुमति ले ली है । अब आपकी अनुमति चाहता हूं । उन्होंने ही भेजा है, आपके पास ।"

उन्होंने जल्दी-जल्दी एक ही सांस में यह सब बता डाला । सारे अपेक्षित प्रश्नों के उत्तरों सहित ! मुझे मन-ही-मन हंसी आई, पर प्रकट नहीं होने दी । कहा :

"ससुरजी क्या कहते हैं, आपके प्रस्ताव के बारे में ?"

"उन्होंने अनुमति दे दी है ।"

"फिर मेरी भी अनुमति है ।" है । मैंने हंसते हुए कहा :

वे आश्चर्य से मेरी ओर देखते र

"देवरजी, ससुरजी हमारे घर के प्रमुख हैं । उनकी अनुमति ही आवश्यक है, इतना ही मेरे कहने का अ है !"

"ठीक है, एक छोटा-सा प्रश्न क हूं ?"

"कहिए ।"

"ये अरबी के पत्ते आप इतने ज तन से क्यों निकालती हैं ? हम तो खाली डंठल छोड़ बाकी सब पत्ते का ट देते हैं ।"

"ये पत्ते मेरे कुछ लाड़ले-से हैं ।

"लाड़ले ! यानी ?"

"यानी...मैं समझा नहीं पाऊंगी/ कैसे ? पर हैं अवश्य !"

"अच्छा, अब मेरी बात सुनें । आप हर संध्या ज्ञानेश्वरी का पाठ करती हैं। मुझे धार्मिक ग्रंथों से थोड़ा-सा लगाव है । वास्तव में मेरी माताजी को इससे लगाव होना चाहिए था, पर नहीं है। पत्नी को तो घर के कामों से ही फुरसत नहीं मल पाती । अब बचा मैं । सो आपका प्रवचन सुनने की इच्छा है । रोज । क्या विचार है आपका ?"

मैंने संकोच से कहा :

"देवरजी, मैं प्रवचन करना नहीं जानती । मैं तो सिर्फ पाठ करती हूं । उसका अर्थ समझाती हूं । मेरे तात्याजी ज्ञानेश्वरी के वास्तविक उपासक थे । उन्होंने कहीं-कहीं अ र्थ लिख रखे हैं । बस, वही मेरा पांडित्य है । इतना ध्यान रखें और फिर भी मन करे तो अवश्य आएं ।"

छठे दिन मेरे पाठ करने से पह ले वे मेरे पास आए । बोले :

"भाभीजी, एक प्रार्थना है...।"

"प्रार्थना ! कैसी प्रार्थना ?"

"मैं तो बैंक में बाबू हूं, इसलिए इससे अच्छा शब्द सूझा ही नहीं, अन्यथा और कुछ कहता ।"

"कहिए ।"

"आपके भोजन की व्यवस्था मे री ध्यान में आ गई है। यह काया

काम कर सके, इतना ही भोजन दोपहर बाद पेट में आहुति बन पड़ता है। उसके बाद दूसरे दिन ही..."

"आपको कैसे मालूम हुआ ?"

"अब यह सब न पूछें। बघार की सुगंध, भाजी के डंठल, इस बात की गवाही दे देते हैं कि क्या बना है। फिर किस बर्तन में बना, कितना बना, वह ठीक से बना भी या नहीं ? इस सबकी खबर मुझे मिल जाती है ?"

"कौन दे जाता है ये खबरें ?"

"हमारी पूज्य माताजी !"

मुझे हंसी आ गई। उन्होंने अपनी बात जारी रखी :

"अब आपसे एक नम्र प्राथना है। अपने लगाए आम के पेड़ का यह पहला फल मैं आपको अर्पित करना चाहता हूं। बच्चों से भी छुपाकर रखा था। स्वीकार करें।"

थोड़ा-सा रुके फिर बोले :

"एक बात और कहूंगा। ज्ञानेश्वरी का पाठ करने-पढ़ने वाले बम्बई में भी बहुतेरे हैं। परन्तु ज्ञानेश्वरी जीने वाला आपसे पहले कोई नहीं मिला !"

इतना कहकर वे अपनी नित्य की जगह पर आंखें बंद करके बैठ गए।

हमारी नहानी वैसे खुली ही थी, देहात में होती है, जैसी। मात्र थोड़ी-सी बंद। ऊपर से खुली। जाड़ों में ससुरजी गरम पानी से नहाते थे। मैं ठंडे जल से स्नान करने की आदी थी। सो उनसे पहले नहा लिया करती थी।

जोशीजी का बगीचा हमारे बगीचे से सटा हुआ था। बागड़ से लगा उनका सेमल का पेड़ और हमारी नहानी भी उसी तरफ। यह बात कभी ध्यान में नहीं आई। मैं स्तोत्र पठन करते-करते एक साड़ी लपेटे नहा रही थी। नहाने के बाद सूखी साड़ी लपेट रही थी कि मैंने देखा, ससुरजी अत्यन्त क्रोध में हाथ में डंडा लिये, थरथराते हुए जोशीजी के बागड़ के पास वाले सेमल के पेड़ की तरफ चले जा रहे हैं। उधर देखा तो जोशीजी

खुले बदन, छाती के बालों में हाथ फेरते, पेड़ तले खड़े हैं।

हाथ का डंडा जोशीजी की ओर फेंकते हुए ससुरजी क्रोध में बोले,

"अरे दुष्ट-चांडाल। वहां ऊपर खड़े रह घूर रहा है !"

ससुरजी गिरते-पड़ते आगे बढ़ रहे थे। मैंने जैसे-तैसे साड़ी को कसकर लपेटा और उनकी ओर दौड़ी। उन्हें समझाने लगी :

"आप इधर आइए, पिताजी ! मेरी बात नहीं सुनेंगे ?"

इतने में प्रभाकर भाई गुस्से में दौड़ते हुए आ पहुंचे। जोशीजी को कोसते हुए बोले :

"क्यों ? तेरी दुर्बद्धि इस हद तक पहुंच गई है ?"

अब जोशीजी कुछ सम्हल गये थे। बोले :

"अबे, ओ बंबैय्या ! अपनी दादागिरी वहीं दिखा, बंबई में। कायदे की बात बोल, समझा ?"

"मैंने स्वयं तुझे झांकते देखा है। बहाना बनाता है, सेमल की फलियां तोड़ने का। बोल ! झांक रहा था कि नहीं, नहा रही भाभीजी को ?"

"अरे जाऽऽ, जा ! मैं अपने बगीचे में खड़ा हूं। तेरे आंगन में नहीं..."

"झूठे !"

ससुरजी को ओसारे में ले जाकर लिटाया। पिछले दरवाजे पर गई और आवाज दी :

"प्रभाकरभाई ! मेरी बात तो सुनिए।"

"परन्तु भाभी..."

"सुनिए तो। इधर आइए !"

वे दनदनाते मेरे पीछे-पीछे ओसारे में आए। जोशीजी की कुत्सित हंसी हमारे कानों तक पहुंच रही थी। मैंने कहा :

"जरा-सी बात पर गाली-गलौज करना अच्छा नहीं !"

"परन्तु भाभीजी..."

उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए मैंने कहा :

"मेरा अपमान कोई नहीं कर पाएगा, देवरजी।"

आश्चर्य से वे बोले :

"क्या मतलब ?"

"मतलब तो मैं नहीं जानती, परन्तु मेरे लिए आप झगड़ा मोल न लें !"

"ठीक है। यहां किसे पड़ी है ?" वे अपने घर चले गए।

ससुरजी पूरी दोपहर लेटे रहे। खाना भी नहीं खाया। मैं मुश्किल से दो कौर निगल सकी।

शाम को बहुत देर तक पड़ोस में देवरजी के घर में वाद-विवाद का ऊंचा स्वर सुनाई दे रहा था। ज्ञानेश्वरी के पाठ में अभी समय था। इतने में प्रभाकरभाई हमारे घर आए। ताव से भरे हुए ! ओसारे में ससुरजी के पास ही बैठे। बोले :

"अब यदि किसी के प्रति गलत धारणाएं बना ली हों तो कोई क्या करे ?"

बाहर आते हुए मैंने पूछा :

"किसकी बात कर रहे हैं, देवरजी ?"

"अरे, यह तो रोज का रोना हो गया है ! खैर, आपसे एक बात कहना चाहता हूं।"

"बोलिए।"

"और तो कुछ नहीं ! बस आप यहां न रहें। अफवाहें फैलती हैं इसके कारण।"

"यहां न रहूं ? कहां जाऊं ?"

"कहीं भी ! हमारे साथ बंबई चलिए।"

"उससे क्या होगा ?"

"उससे होगा यह कि आप हमारे संरक्षण में रहेंगी। ये दुष्ट, पापी यहां आपको जीने नहीं देंगे।"

"बम्बई में क्या सभी सज्जन हैं ? क्या वहां कोई दुष्ट-पापी होगा ही नहीं ?"

वे चकित होकर बोले :

"ऐसा कैसे हो सकता है ? अच्छे-बुरे लोग तो सभी जगह होते हैं।"

"अच्छा, आप तो सुबह ही काम पर चले जाते होंगे ?"

"जी हां, रोज आठ घंटे..."

"फिर उन आठ घंटों में मुझ पर पहरा कौन रखेगा ?"

वे आश्चर्य से मुंह पर हाथ रक्खे मुझे हंसते देख रहे थे। मैं आगे बोली :

"देवरजी, आप तो कहते थे कि ज्ञानेश्वरी जीने वाला आपको कोई नहीं मिला आजतक ! वह ग्रंथ अत्यंत गहन है। उसे जिया स्वयं ज्ञानेश्वर महाराज ने। मैं तो अत्यंत साधारण जीव हूं। राजहंस भले ही आकाश छूने की क्षमता रखता होगा, तो क्या पतंगा उड़ना ही छोड़ दे ? ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है कि 'जगें अवज्ञाचि करावी ! ...'"

वे एकदम उफनते हुए बोले :

"यानी ? आप अवज्ञा की प्रतीक्षा में हैं ?"

"किसी की अवज्ञा के लिए मैंने मन्नत नहीं मांगी है। चाहे जो भी हो, मैं अपना यह प्रिय अहाता छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी। ये वृक्ष, पेड़-पौधे सारे मेरे अपने हैं। मेरे बंधु हैं। अत्यधिक विषम स्थिति में मैं इन्हीं का आश्रय लेती रही हूं। बताने के लिए तो बहुत-कुछ है। और तो और, ससुरजी को यहां इस परिस्थिति में छोड़कर मैं भाग जाऊं ? नहीं ! देवरजी, मुझे इतना छोटा न बनाएं।"

"देखिए, फिर कहेंगी कि मुझे किसी ने सावधान नहीं किया।"

"कभी नहीं कहूंगी।"

दादा कहते हैं कि मैं जिसके सहारे जी रही हूं, वह मेरा रक्षण करने में सक्षम है।

देवरजी कहते हैं कि ज्ञानेश्वरी जीने वाला उन्हें कोई मिला ही नहीं।

ठीक है। इस जोशीजी वाली समस्या का समाधान मैं स्वयं ही खोज निकालूंगी !

यदि मैंने यह न किया तो व्यर्थ ही मैं 'उसकी' हुई ! उसकी शरण में जाना अकारथ ही रहा !

४१/

उस दिन चादरें धोनी थीं। उन्हें लेकर गई पर पन्हे गई। इससे पहले वहां जाते जोशीजी का डर बना रहता था, परन्तु आज पूर्ण निडर होकर गई। जैसे मैंने आह्वान स्वीकार कर लिया है। जाते समय तो वे न दीखे, परन्तु लौटते समय दीख गए। मुझे देखते ही आंगन से उठकर रास्ते तक आए। मेरी ओर देखकर मुस्करा दिए।

क्षण भर रुकी। उनकी ओर स्थिर नजरों से देखा। उन्हें यह सोचकर हंसी भी आई कि मैं डर रही थी। परन्तु डरना क्यों? मेरी निर्भयता ही इस आदमी को चकित कर सकती है। यदि भय है तो हजारों दुःख उपजते हैं। भय त्यागना होगा। मैं तो 'उसकी' दासी हूं। फिर डर कैसा?

दोपहर में खाना खाया। ससुरजी लेटे थे। उनके चरणों के पास जा बैठी।

वे आश्चर्य से बोले,

"क्या बात है, बेटी?"

"आज मैं कुछ करने जा रही हूं। बात दुनियादारी से अलग है। परन्तु आपका मुझ पर विश्वास है न, पिताजी?"

"बेटी...!"

"तो फिर आप केवल देखते रहें। कुछ न बोलें।"

श्रीपाद को आवाज दी। उसे रसोई में ले गई। प्यार से पूछा,

"मेरा एक काम करोगे, बेटे?"

"जी हां ऽऽ!"

"बड़ा अच्छा बेटा है। देखो, पड़ोस के जोशी काका को जानते हो न?"

"वे ही, जिनकी छाती पर जंगल है!"

"हां बेटे, वे ही! उनसे जाकर कहो कि मनु भाभी ने बुलाया है।"

वह दौड़कर गया और थोड़ी ही देर में लौट आया।

"पूछते थे, अभी बुलाया है या शाम को?"

"फिर? तुमने क्या कहा?"

"यही कि अभी बुलाया है।"

"तो क्या बोले?"

"आता हूं, पांच मिनट में।"

जोशीजी सचमुच पांच मिनट में आ गए। खुले बदन नहीं। अच्छा-सा कुर्ता और साफ-सुथरी धोती पहने, बाल संवारकर आए थे। मैं ओसारे के दरवाजे पर खड़ी थी। वे हंसकर बोले:

"बुलाया था, आपने? वैसे आराम से शाम को ही आने वाला था। फिर सोचा, पूछ लूं कि क्या काम है? कोई खास बात हो तो...?"

"वैसे है तो बात खास ही!"

"बोलिए न! देर न करें। आप तो भई, हमें एकदम पराया समझती हैं। यहां इस देहात में आपके लिए हम, हमारे लिए आप। क्यों?"

"आप ठीक कहते हैं। थोड़ी-सी बातचीत करनी थी। समय है न आपके पास?"

"बहुत है। भला आपके आगे मैं समय की बात सोचूंगा?"

"पहली बार जब यहां आई थी, तब लगा, यह अनजाना देस है और मैं अकेली हूं"

"नहीं! अकेली क्यों..."

"पहले तो कुछ गड़बड़ा गई। फिर ध्यान आया कि मेरे यहां पहुंचने से पहले ही सारी सुविधाएं जुट गई हैं।"

"बिलकुल।"

"हरएक से पहचान होती गई। लगा, पिछले जनम में भी हम ऐसे ही इकट्ठे रहे हैं। इन सबसे बिछोह जैसे हुआ ही नहीं।"

"अजी, बिछोह होगा ही क्यों? इसकी योजना तो ऊपर से ही होती है।"

"उनमें से ही कुछ लोग दूर, कुछ लोग पास । किसी से रोज काम पड़ता है, तो कोई कभी-कभार ही मिलता है ।"

जोशीजी प्रसन्न हो उठे । बोले :

"अजी, संबंध तो निभाने पर निभते हैं । यदि मन में ठानी..."

"आपका भी तो परिचय है, इन सबसे ! पिछवाड़े का कदली वन, बगीचे के नारियल के पेड़, ये सुपारी, आम-कटहल के पेड़ । ये ऊंची पहाड़ियां ! यह लाल मिट्टी । इन सबसे असीम प्रीति हो गई है मुझे । इन सबसे कहा कि तुम मेरे हो, मेरे अपने ! कितने वर्षों तक बिछोह सहा ? अब नहीं बिछड़ेंगे । इस शरीर का जो कुछ भी होना होगा, वह तुम सबके समक्ष तुम्हारी संगत में ही हो ।"

जोशीजी मेरी ओर टुकुर-टुकुर देखते रहे । मैं धैर्य से आगे बोली :

"आपके इशारे क्या मैं समझती नहीं ? सब समझती हूं ! आप तो पुरुष हैं । जो चाहें, जब चाहें, कर सकते हैं । रात-बेरात । कहीं भी एकांत में रोककर ! जो मेरा अपना है, उसे क्षण भर में नष्ट करने की ताकत है आपमें । मैं दुर्बल ! कहां सामना कर पाऊंगी ? ऐसा कुछ करने की नौबत न आप पर आए, न मुझ पर !

"आप क्या चाहते हैं ? यह शरीर ? यह हड्डियों का ढांचा ? रोगों का निवास ? यह क्लेश-तरुओं का वन ? इसमें क्या अच्छा लगा आपको ? ये आंखें ? जो बुढ़ापे में निस्तेज हो जाएंगी ? ये दांत ? जो गिरकर मुंह को पोपला बना जाएंगे ? यह काया, जो बुढ़ापे में जर्जर हो जाएगी और थरथराती रहेगी ?

"इतनी-सी बात के लिए ये इशारे ? संदेश ? और चिट्ठियां ?

"यह काया, क्या मेरी अपनी रह गई है ? नहीं ! यह तो श्रीहरि पर से उतारा नेग है । इस देह पर मेरी सत्ता तिलमात्र नहीं । आप इस देह को स्वीकार करें । इसे चीर दें, बिखेर दें चारों ओर !

"पर जो कुछ भी करें, वह मेरे अपनों के समक्ष हो ! इन सुपारी, नारियल, आम आदि की छाया में, इस शिव-निर्माल्य का आप कुछ भी करें !

"आपको डर किसका है ? संकोच किससे है ? ससुरजी से ? वे यहां हमारे सामने ओसारे में होंगे भी, तो हमारे बीच नहीं आएंगे । उनसे क्यों शरमाना ?

"अरे, आप तो चल पड़े ! गर्दन झुकाए ? यही वह क्षण है, जब आप अपना पौरुष प्रकट कर सकेंगे ! यही वह मौका है !

"आप ऐसे न जाएं ! यह क्षण फिर नहीं आएगा ! ऐसा मौका फिर नहीं मिलेगा ।" वह चले गये ।

मैं थककर चूर हो गई थी । अंदर जाकर लेटी ही थी कि प्रभाकर-भाई तूफान की तरह आएं ! बाहर से ही आवाज दी ।

"भाभी, ओ भाभी ! पहले बाहर आओ !"

"क्या हुआ, देवरजी ?"

"पहले तुम बाहर तो आओ, नहीं तो मुझे अंदर आना पड़ेगा !"

मैं दरवाजे से जैसे ही बाहर आई, उन्होंने मुझे साष्टांग नमस्कार किया । जैसे पैरों में गिर पड़े । उनके हाथ जूठे थे । शायद खाना अधूरा छोड़कर आए थे । वे उठे और आंसू पोंछते हुए बोले :

"आज तुमने जो कुछ किया, वह सब मुझे मालूम पड़ चुका है । मां यहां बाहर दीवार से कान लगाए खड़ी थीं । असीम कौतूहल-अंदर क्या चल रहा है यह जानने का ! मैं बहुत कृतज्ञ हूं अपनी मां की स्मरणशक्ति का ! एक-एक अक्षर सुना दिया मुझे !

"मैं भोजन कर रहा था । वे दौड़ती आईं । दोनों हाथ कोहनी तक जोड़कर मुझसे बोलीं, 'उस बेशरम राक्षसी के पास मत जाया कर ! मरी, उस जोशी के लिए दिन-दहाड़े आंगन में सेज सजाने चली थी ।'

"हाथ का कौर वहीं रोककर मैंने पूछा कि आखिर हुआ क्या ?

"यहां जो भी वार्तालाप हुआ, वही सारा उन्होंने सुना दिया । एक अक्षर भी इधर-उधर नहीं किया ! मैंने बार-बार पूछा भी कि भाभी ने अपनी देह को 'क्लेशतरु का वन' बताया ?

'मन-ही-मन मैं बोला, मां, तुम नहीं समझ पाओगी । इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं । बात तो आकाश से भी ऊंची है ! तुम्हारी समझ से परे !

"भाभी, उस दिन मैं कह रहा था कि इस वीरान देश में तुम्हारा कोई नहीं! दुष्ट तुम्हें जीने नहीं देंगे ! तुम बम्बई चलो हमारे साथ ! कितना सीमित है मेरा विवेक ! कितनी संकीर्ण है मेरी बुद्धि !

"तुम अपार हो, भाभी ! अणु से छोटी, आकाश से भी ऊंची, महान !

"तुम कहीं भी रहो ! किसी की क्या हिम्मत, जो तुम्हारी ओर नजर उठकर देखे।"

प्रभाकरभाई बहुत-कुछ कहते चले जा रहे थे। मैंने चेहरा दूसरी ओर घुमा लिया, आंसू पोंछ डालने के लिए। इसका अर्थ ?

नहीं, कुछ नहीं, कुछ भी नहीं। ●

'मण्डल' से प्रकाशित

उपन्यास साहित्य

- मोगरा फूला
- पद्मिनी का शाप
- आंचल और आग
- धूपछांह
- गौरप्रिया
- लहरों के बीच
- विराट
- अन्धा मन
- प्रकाश की छाया में
- नियति के पुतले
- प्रेम और प्रकाश
- बदलाव
- अपराजिता
- अन्तहीन अंत
- प्रेम की देवी
- मेघ मल्हार
- सुलतान और निहालदे
- अथाह की थाह

सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन